श्री जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापूर.
(मराठी विभाग पुष्प ५२ वे)



दशलक्षण धर्म

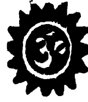
— प्रकाशक —

जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापूर

— लेखक —

पं. नरेंद्रकुमार शास्त्री
(न्यायतीर्थ–महामहिमोपाध्याय)
सोलापूर

इ. सन १९८३)   (किमत पांच रुपये



भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प: ४२

दशलक्षण धर्म

श्री पद्मनंदि पंचविंशति का में से उत्तम क्षमादि
दस धर्मों पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के
प्रवचन



लेखक:—

ब्र० हरिलाल जैन



अनुवादक:—

मगनलाल जैन



प्रकाशक:—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रति २०००]   वी० सं० २४८७   [मूल्य ५३ न.पै.

अनुक्रमणिका

अमृत-पान करो !

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि-हे भव्य जीवो ! तुम इस सम्यग्दर्शनरूपी अमृत को पियो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुखका भण्डार है, सर्व कल्याण का बीज है और संसार समुद्र से पार उतरने के लिये जहाज है; एकमात्र भव्य जीव ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्ष को काटने के लिये यह कुल्हाड़ी के समान है, पवित्र तीर्थोंमें यही एक प्रथम तीर्थ है, और मिथ्यात्वका नाशक है।

(ज्ञानार्णव अ० ६ गा०-५६)

संपादकीय

भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक के दस दिनों को "दश-लक्षण पर्व" कहा जाता है; सनातन जैनशासन में इसे ही पर्यूषण पर्व कहते हैं। शास्त्रों में तो दशलक्षण पर्व वर्ष में तीनबार आने का वर्णन है, किन्तु वर्तमान में भादव मास में ही उसकी प्रसिद्धि है। इस धार्मिक पर्व की वीतरागी जिनशासन में अपार महिमा है।

जैनशासन का यह पवित्र पर्व अनादिकालीन है। इस पर्व संबन्धी इतिहास इसप्रकार है:–प्रत्येक काल में अवसर्पिणीकाल का पंचम आरा पूर्ण होने के पश्चात् छट्ठा आरा प्रारम्भ होता है, और लोग अनार्यवृत्ति वाले, हिंसक एवं मांसाहारी होजाते हैं; उसके पश्चात् उत्सर्पिणीकाल के प्रारम्भ में अषाढ़ वदी* एकम से प्रारम्भ होकर ४९ दिनों में अमुक प्रकार की बरसात, पवन आती है और फल-फूलादि पकते हैं। वह देखकर लोगों के मन में आर्यबुद्धि पैदा होती है और तभी से वे मांसाहारी इत्यादि हिंसक वृत्तिओं को छोड़कर उन फल–फूलों से जीवन-निर्वाह करते हैं; इसप्रकार भादव सुदी पंचमी के दिन चिरकाल से चली आरही अनार्यता और हिंसकवृत्ति पलटकर लोगों में आर्यता, सरलता, क्षमाभाव प्रगट होते हैं; इसीसे उसदिन से प्रारम्भ करके दस दिनतक दशलक्षण पर्व मनाया जाता है। पर्व अर्थात् मंगलकाल, पवित्र अवसर। वास्तव में अपने आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो निर्मल वीतरागी दशा प्रगट की वही यथार्थ पर्व है, वही आत्मा का मंगलकाल है और वही पवित्र अवसर है। जहाँ ऐसा भावपर्व हो वहाँ बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल को उपचार से पर्व कहा जाता है। यथार्थरीति से तो आत्मा के शुद्ध भावों में ही पर्व है, रागादि में अथवा बाह्य पदार्थों में पर्व

---

* इस बरसात का प्रारम्भ श्रावण वदी एकम से होता है, इससे जैनशासन के अनुसार उसी दिन से नूतनवर्ष का प्रारम्भ होता है।

नहीं है। इतना भेदज्ञान रखकर ही प्रत्येक कथन का अर्थ समझना चाहिये। पर्वों का प्रयोजन आत्माके वीतरागभाव की वृद्धि करने का है।

मुनिवरों के चारित्रदशा में उत्तमक्षमादि दसप्रकार के धर्म होते हैं। भाद्रपद शुक्ला ५ से १४ तक दस दिन के बीच इन दस धर्मों की क्रमानुसार भावना भायी जाती है, इसीसे उन दस दिनों को 'दशलक्षण पर्व' कहा जाता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि यह भादव सुदी पंचमी आदि दिन तो कालद्रव्य की दशा है—उसमें उत्तमक्षमादि धर्म नहीं हैं, किन्तु आत्मा में सम्यक्दर्शनपूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना ही उत्तम-क्षमा धर्म का पर्व है और चाहे जिससमय आत्मा यह भाव प्रगट कर सकता है। तिथि के आधार से धर्म नहीं; किन्तु आत्मा के आधार से धर्म है।

भादवा सुदी ५ से १४ तक के दस दिन अनुक्रम से १—उत्तम-क्षमा, २-मार्दव (निरभिमानता) ३-आर्जव (सरलता) ४-शौच (निर्लोभता) ५—सत्य, ६—संयम, ७—तप, ८—त्याग, ९—आकिंचन्य (अकिंचनपना) और १०—ब्रह्मचर्य धर्म के दिन माने जाते हैं। और दस दिनों के बीच दस धर्मों के स्वरूप का वर्णन, उनके माहात्म्य का चिंतवन, उनकी प्राप्ति का अभ्यास और भावना की जाती है।

परन्तु वर्तमान में तो अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि उत्तम-क्षमादि धर्मों का सत्यस्वरूप क्या है और उसे जानने का प्रयोजन रखे बिना, मात्र रूढ़ि के अनुसार दस दिनों को मनाकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। परिणाम यह होता है कि वे आत्मा के उत्तमक्षमादि धर्मों का स्वरूप न जानने से उस धर्म की सच्ची उपासना नहीं कर पाते और आत्मकल्याण से तो वे वंचित ही रहते हैं। जो आत्मा का स्वरूप समझकर अपने में उत्तमक्षमादि धर्म की आराधना प्रगट करे—उसने ही यथार्थरीति से दशलक्षण पर्व को मनाया—ऐसा कहा जाये।

वीर संवत् २४७३ के दशलक्षण पर्व के दिनों में सोनगढ़ में पूज्य श्री कानजी स्वामी ने पद्मनन्दि आचार्यदेव द्वारा रचित पद्मनन्दिपंच-

विंशतिका में से उत्तमक्षमादि दस धर्मों के व्याख्यान करके उन धर्मों का यथार्थस्वरूप अपूर्व रीति से समझाया है, वे व्याख्यान इस ग्रन्थके रूप में दूसरीवार प्रकाशित किये गये हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव का महान सूत्र है कि–'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल सम्यक्दर्शन है; उसके अनुसार इन उत्तमक्षमादि दसधर्मों का मूल भी सम्यग्दर्शन ही है–यह बात इन प्रवचनों में यथार्थरीति से समझाई गई है; तथा यह उत्तमक्षमादि दसधर्म मुख्यतः मुनियों के धर्म हैं; किन्तु गृहस्थ–श्रावकों के भी सम्यग्दर्शनपूर्वक वे उत्तमक्षमादि धर्म किसप्रकार होसकते हैं–वह भी इसमें बतलाया है।

आत्मार्थी जीवो! इन प्रवचनों द्वारा उत्तमक्षमादि दसधर्मों का यथार्थ स्वरूप समझें और अपने आत्मा में उनकी आराधना प्रगट करें!

सावन बदी १
वी० सं० २४८७

रामजी माणेकचंद दोशी प्रमुख—
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



दस-धर्म

"उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयम-

तपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।"

अर्थः—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, यह दसप्रकार के धर्म हैं।

(श्री तत्त्वार्थसूत्र अ० ९ सूत्र ६)

इस सूत्र में बतलाया गया 'उत्तम' शब्द क्षमा आदि दश धर्मों को लागू होता है। यह गुणवाचक शब्द है। उत्तमक्षमादि कहने से यहाँ-पर रागरूप क्षमा को नहीं लेना चाहिये, किन्तु स्वरूप के भानसहित क्रोधादि कषायके अभावरूप क्षमा समझना चाहिये। उत्तमक्षमादि गुण प्रगट होने पर क्रोधादि कषायों का अभाव होता है, इससे आस्रव की निवृत्ति होती है अर्थात् संवर होता है।

अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि बंधादिक के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि न करना सो धर्म है; किन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि उनका क्रोधादि करने का अभिप्राय तो दूर हुआ ही नहीं। जैसे कोई मनुष्य राजा आदि के भय से अथवा साधुता के लोभ से पर-स्त्री सेवन नहीं करता तो इससे उसे त्यागी नहीं कहा जासकता; उसीप्रकार उपर्युक्त मान्यता वाले जीव भी क्रोधादिक के त्यागी नहीं हैं, उनको धर्म नहीं होता।

प्रश्नः—फिर क्रोधादि का त्याग किसप्रकार हो?

उत्तरः—पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने से क्रोधादि होते हैं। तत्त्वज्ञान के अभ्यास से जब कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्टरूप भासित न

हो उससमय क्रोधादि स्वतः उत्पन्न ही नहीं होते और तभी यथार्थ धर्म होता है।

क्षमादि धर्मों की सामान्य व्याख्या

(१) क्षमाः—निंदा, गाली, हास्य, अनादर, मार, शरीर का घात इत्यादि होनेपर अथवा उन प्रसंगों को निकट आता देखकर भावों में मलिनता न होना सो क्षमा है।

(२) मार्दवः—जाति इत्यादि आठप्रकार के मद के आवेश से होने वाले अभिमान का अभाव सो मार्दव है, अथवा परद्रव्य का मैं कर सकता हूँ–ऐसी मान्यतारूप अहंकारभाव को जड़मूल से उखाड़ फेंकना सो मार्दव है।

(३) आर्जवः—माया-कपट से रहित सरलता, सो आर्जव है।

(४) शौचः—उत्कृष्टतापूर्वक लोभ से विराम लेना–निवृत्त होना सो शौच अर्थात् पवित्रता है।

(५) सत्यः—सत् जीवों में–प्रशंसनीय जीवों में साधुवचन (सरल वचन) बोलने का भाव सो सत्य है।

(६) संयमः—समिति में प्रवर्तन करनेवाले मुनि द्वारा प्राणियों को दुःखी करने का त्याग सो संयम है।

(७) तपः—भावकर्म का नाश करने के लिये अपनी शुद्धता का प्रतपन सो तप है।

(८) त्यागः—संयमी जीवों को योग्य ज्ञानादिक देना सो त्याग है।

(९) आकिंचन्यः—विद्यमान शरीर में भी संस्कार के त्यागके लिये 'यह मेरा है'–ऐसे अनुराग की निवृत्ति सो आकिंचन्य है। आत्म-

स्वरूप से भिन्न शरीरादि में अथवा रागादि में ममत्वरूप परिणामों का अभाव सो आकिंचन्य है ।

(१०) ब्रह्मचर्य—स्त्रीमात्र का त्याग करके अपने आत्मस्वरूप में लीन रहना सो ब्रह्मचर्य है । पूर्व में भोगे हुए स्त्रियोंके भोग का स्मरण और उसकी कथा सुनने के त्याग से एवं स्त्रियों के पास बैठना छोड़ देने से तथा स्वच्छन्द प्रवर्तन रोकने के लिये गुरुकुल में रहने से ब्रह्मचर्य का पालन पूर्णरूप से होता है ।

इन दस बोलों में 'उत्तम' शब्द लगाने से उत्तमक्षमा इत्यादि दस धर्म होते हैं । उत्तम कहने से सम्यक्‌दर्शन सहित समझना चाहिये । सम्यग्दर्शन के बिना उत्तमक्षमादि धर्म नहीं होते । यानी इन उत्तमक्षमादि दस धर्मों को शुभरागरूप नहीं समझना किन्तु कषायरहित शुद्धभावरूप जानना चाहिये ।

(मोक्षशास्त्र–गुजराती टीका)



दंसण मूलो धम्मो

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव दर्शनप्राभृत की दूसरी गाथा में कहते हैं कि—सर्वज्ञ भगवान ने गणधरादिक शिष्यों को जिस धर्म का उपदेश दिया है—उस धर्म का मूल सम्यक्दर्शन है।

श्री सर्वज्ञदेव की परम्परा से जो जिनमत प्रवर्तमान है उसमें धर्म की प्ररूपणा चार प्रकार से है; उन चार प्रकारों में सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है। वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं।

(१) वस्तुस्वभाव सो धर्मः—आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति है, उसका स्वभाव ज्ञान-दर्शनमय चेतना है, वह चेतना शुद्धतारूप में परिणमित हो अर्थात् स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-रमणतारूप से परिणमित हो वह धर्म है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध चेतनास्वरूप वस्तु है और विकार क्षणिक है, ऐसे भेदज्ञान पूर्वक आत्मस्वभाव की प्रतीति और उसका अनुभव सो सम्यग्दर्शन है और वही वस्तुस्वभाव का मूल है।

(२) दशलक्षणरूप धर्मः—सम्यग्दर्शन द्वारा शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा करके उसका ज्ञान और स्थिरता प्रगट करके आत्मा को कषायभावों से बचा लेना ही उत्तमक्षमादि धर्म हैं। वे उत्तमक्षमादि धर्म सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होते। सम्यक्दर्शन के बिना द्रव्यलिंगी मुनि होजाये और कोई जला डाले तथापि क्रोध न करे, सिंह खा जाये तो भी न बोले तथा शुभपरिणाम रखे, तो भी उसके 'उत्तमक्षमा' नहीं कही जाती; क्योंकि वह सम्यग्दर्शनरहित जीव ऐसा मानता है कि मैंने यह बहुत कर लिया और शुभ परिणाम रखे हैं इससे अब मुझे धर्म होगा। जिसने शुभभावों को अच्छा माना और उनसे आत्मा को लाभ माना, उस जीव को शुभाशुभरहित शुद्ध

चैतन्यस्वभाव पर क्रोध (अरुचि) है, उसे अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन ही उत्तमक्षमादि दस धर्मों का मूल है।

(३) रत्नत्रयरूप धर्मः—अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सो रत्नत्रय धर्म है, उसका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है।

(४) जीवरक्षारूप धर्मः—आत्मा ज्ञान-दर्शनस्वरूप है, उसकी मिथ्यात्व और पुण्यपाप के विकारीभावों से रक्षा करना अर्थात् पुण्य-पापके विकारीभावों को आत्मा का स्वभाव न मानना, किन्तु पुण्य-पाप से भिन्न शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मस्वभाव को श्रद्धा में, ज्ञान में और स्थिरता में स्थिर रखना ही सच्ची जीवरक्षा है। मैं परजीव को बचा सकता हूँ ऐसा मानना तथा पुण्य-पाप के परिणामों द्वारा आत्मा को लाभ मानना सो ही स्व-जीव की हिंसा है। परजीव की रक्षा या हिंसा कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि परजीव का जीना या मरना इस जीव के आधीन नहीं है। सम्यग्दर्शन द्वारा अपने शुद्धस्वभाव को जानकर उसे जितने अंश में विकार से बचाले उतने ही अंश में जीवरक्षारूप धर्म है। इसका मूल भी सम्यग्दर्शन ही है।

इसप्रकार सर्वज्ञदेव के कहे हुए आत्मा के समस्त धर्मों का मूल सम्यग्दर्शन है। जैसे जड़ के बिना वृक्ष नहीं उगता, और नींव के बिना मकान नहीं बनता, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी प्रकार का धर्म नहीं होता।



भाद्रपद शुक्ल ५

दशलक्षण पर्व

आज से दशलक्षणपर्व प्रारम्भ होता है। सबसे पहला दिन उत्तमक्षमा का है। चारित्रदशा में प्रवर्तमान मुनियों के उत्तमक्षमादि दसप्रकार के धर्म होते हैं। इन उत्तमक्षमादि धर्मों से ही चारित्रदशा होती है, वह चारित्र मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्र के कारण हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को मोक्षमार्ग कहना सो उपचार है, क्योंकि जिनके सम्यग्दर्शन–ज्ञान हुए हों उनके अवश्य ही अल्पकाल में सम्यक्चारित्र प्रगट होता है, इससे सम्यग्दर्शन होते ही मोक्षमार्ग कह दिया है; किन्तु मोक्ष के लिये साक्षात् कारण तो वीतरागी चारित्रदशा है। उस चारित्रदशा के उत्तमक्षमादि दस प्रकार हैं। इन उत्तमक्षमादि दस धर्मों की आराधना का पर्व आज से प्रारम्भ होता है। 'दशलक्षणपर्व' का अर्थ है 'मोक्ष की आराधना का महोत्सव।'

उत्तमक्षमा की व्याख्या

आज का दिन 'उत्तमक्षमा का माना जाता है। सम्यग्दर्शन के बिना उत्तमक्षमा होती ही नहीं। लोकरीति में शुभभाव को क्षमा कहते हैं, उसका निषेध करने के लिये यहाँ उत्तमक्षमा–ऐसा कहा है। उत्तमक्षमा का अर्थ है सम्यग्दर्शनसहित वीतरागभावरूप क्षमा।

निश्चय से अपना आत्मस्वभाव त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, उसकी प्रतीति एवं बहुमान करना तथा राग-द्वेष क्रोधादि की रुचि को छोड़ना ही उत्तमक्षमा की यथार्थ आराधना है। आत्मस्वभाव का अनादर करके पुण्य–पाप की रुचि करना सो क्रोध है, और आत्मस्वभाव के आदर द्वारा पुण्य–पाप की रुचि को छोड़ देना ही उत्तमक्षमा है।

पर्व किसका ?

दस दिनों को पर्व कहना तो उपचार है, आत्मस्वभाव की प्रतीतिपूर्वक चारित्रधर्म की दस प्रकार से आराधना करना ही साधक जीव का सच्चा पर्व है, पर्व अर्थात् आराधना। उस आराधना का आरोप करके अमुक दिन को 'पर्व' कहना सो व्यवहार है। किन्तु जो आत्मा अपने में आराधक भाव प्रगट करे उसके लिये व्यवहार से दिन को पर्व कहा जाता है। किंतु जिसे आत्मा का भान नहीं है उसके अपने में ही पर्व नहीं है, तब फिर दिन में भी किसका उपचार करना ?

'उत्तमक्षमा' कब होती है ?

आत्मा की पर्याय में जो पुण्य–पाप होते हैं, उनकी रुचि होती है–वही अनन्तक्रोध है। ज्ञायकस्वभाव की रुचि के द्वारा उस क्रोध का नाश करना ही उत्तमक्षमारूप चारित्रदशा प्रगट होने का बीज है। और स्वभाव की रुचि के पश्चात् विशेष स्थिरता द्वारा वीतरागभाव प्रगट करके पुण्य-पाप का नाश करना सो उत्तमक्षमा है। ऐसी क्षमा मुनि-दशा में होती है। आज उस उत्तमक्षमा की आराधना का दिन है। उत्तमक्षमा की आराधना मुनियों के तो सदैव होती है। वह आराधना तो जीव जब चाहे उसीसमय कर सकता है, किन्तु आज विशेषरूप से उसका स्मरण करके साधक जीव उसकी भावना करते हैं।

पद्मनन्दि शास्त्र में से उत्तमक्षमा धर्म का स्वरूप

आज मांगलिकरूप से श्री पद्मनन्दि आचार्यकृत 'पद्मनन्दि पंच-विंशतिका में से उत्तमक्षमा के स्वरूप का प्रवचन होता है:—

[मालिनी]

जड़जनकृत बाधा क्रोध हास प्रियादव—
अपि सति न विकार यन्मनो याति साधोः।

अमल विपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ
शिवपथ पथिकानां सत्सहायत्वमेति ॥ ८२ ॥

(पद्मनन्दि पृष्ठ–४२)

मूर्ख—अज्ञानीजनों के द्वारा वध, बन्धन, क्रोध, हास्य आदि किये जायें, तथापि साधु अपने निर्मल और गम्भीर चित्त से विकृत नहीं होते, वही उत्तमक्षमा है; ऐसी उत्तमक्षमा मोक्षमार्ग के पथिक सन्तों को यथार्थतया सहायता करने वाली है।

उत्तमक्षमा किसके होती है ?

उत्तमक्षमादि जो दश धर्म हैं उनमें मुख्यतया तो चारित्र का ही आराधन है, अर्थात् उन दस धर्मों का पालन मुख्यत: मुनि-दशा में ही होता है, श्रावक के गौणरूप से अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अंशत: होता है। मोक्षमार्ग ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है, वह चारित्र दशा में ही होता है; सम्यग्दृष्टि जीवों के नियम से चारित्र प्रगट होना ही है, इससे चौथे-पाँचवें गुणस्थान में भी उपचार से मोक्षमार्ग कहा है। उत्तमक्षमा अर्थात् सम्यक्दर्शनसहित क्षमा। उत्तमक्षमा मिथ्यादृष्टि के नहीं होती।

उत्तमक्षमा के अतिरिक्त अन्य चार क्षमाएँ

क्षमा के पाँच प्रकार हैं, उनमें से चार तो पुण्यबन्ध के कारणरूप हैं और पाँचवें क्षमा को 'उत्तमक्षमा' कहा जाता है, वह धर्म है।

(१) 'यदि मैं क्रोध करूँगा तो मुझे हानि होगी, यदि मैं इस समय सहन नहीं करूँगा तो भविष्य में मुझे अधिक हानि होगी'—ऐसे भाव से क्षमा करे तो वह रागरूप क्षमा है। जिसप्रकार निर्बल मनुष्य बलवान का विरोध नहीं करता वैसे ही—'यदि मैं क्षमा करूँ तो मुझे कोई हैरान नहीं करेगा'—ऐसे भाव से क्षमा रखना सो बन्ध

का ही कारण है। क्योंकि उसमें क्रोधादि करने की भावना दूर नहीं हुई। मेरा स्वरूप ही किसी प्रसंग पर क्रोध करने का नहीं है, 'मैं तो ज्ञान ही करने वाला हूँ'-ऐसी प्रतीति के बिना कभी भी क्षमाधर्म नहीं होता; किन्तु शुभरागरूप क्षमा होती है, वह बन्ध का कारण है, किन्तु धर्म नहीं है।

(२) 'यदि मैं क्षमा करूं तो दूसरे की ओर से मुझे लाभ हो-ऐसे भाव से मालिक आदि की बातें (फटकार) सहन करे और क्रोध न करे तो वह भी वास्तविक क्षमा नहीं है।'

(३) 'यदि मैं क्षमा नहीं करूंगा तो कर्मबन्ध होगा और नरकादि दुर्गति में जाना पड़ेगा, इसलिये मैं क्षमा कर दूं तो कर्मबंध रुक जाये-ऐसे भाव से क्षमा करे तो वह सच्ची क्षमा नहीं है, वह क्षमा बन्ध का कारण है।

(४) क्रोधादि न करने की वीतराग की आज्ञा है और शास्त्रों में भी वैसा कहा है, इसलिये मुझे क्षमा करना चाहिये, जिससे मुझे पापबन्ध न हो-ऐसे भावों से क्षमा धारण करना वह भी पराधीन क्षमा है, राग है, उससे धर्म नहीं होता।

उत्तमक्षमा धर्म

उपरोक्त चारों प्रकार की क्षमा बन्ध का कारण है, उन चारों में कहीं भी स्व-आत्मा का लक्ष्य नहीं आया, किन्तु परलक्ष्य से ही राग को अल्प करके क्षमा धारण की है, वह सहजक्षमा नहीं है। उत्तमक्षमा तो सहज वीतरागतारूप है। आत्मस्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप की रुचि करना सो महान क्रोध है, और आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप की रुचि के द्वारा उस शुभाशुभ की रुचि को छोड़ देने से वीतरागी क्षमाभाव प्रगट होता है। मुनिदशा में शरीर को सिंह-बाघ खाये जारहा हो, फिर भी उस ओर की कोई वृत्ति ही न उठे, अशुभवृत्ति तो न ही उठे किन्तु शुभवृत्ति भी

न उठे-ऐसी जो आत्मा की उत्कट आनन्दमय वीतरागीदशा है, वही उत्तमक्षमा है, और वही धर्म है। उसमें दुःख नहीं किन्तु आनन्द है। आज उस उत्तमक्षमा धर्म का दिन है। इससे श्री पद्मनन्दि आचार्य ने उत्तमक्षमा का जो वर्णन किया है उसका प्रवचन होरहा है।

साधक की सहचरी उत्तमक्षमा

इस गाथा में अज्ञानी जीवों को 'जड़-जन' कहा है। जिन्हें चैतन्यस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है और रागादि को ही आत्मा मानते हैं, उन्हें परमार्थ से 'जड़' कहते हैं। ऐसे अज्ञानियों के कठोर वचन ज्ञानीजन स्वभावाश्रित रहकर सहन करते हैं-वह उत्तमक्षमा है। साधुजन चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंगों पर भी अपने धीर वीर स्वभाव से च्युत नहीं होते। आत्मस्वभाव की अरुचि जिसका लक्षण है-ऐसे क्रोध का त्याग करके जिन्होंने साधकदशा प्रगट की है और तत्पश्चात् स्थिरता के विशेष पुरुषार्थ द्वारा धीर होकर ज्ञानस्वरूप में लीन होगये हैं, ऐसे सन्तों को बाह्य में कौन प्रतिकूल है अथवा कौन अनुकूल है-उससे प्रयोजन नहीं होता, किन्तु अपने पुरुषार्थ को स्वभाव में उतारकर जो समभावरूप परिणमन करते हैं उनके उत्तमक्षमा है। मोक्षमार्ग में विचरने वाले साधुओं को वह उत्तमक्षमा सर्वप्रथम सहायक है।

आत्मा को मोक्षमार्ग में जाने के लिये कोई पर-पदार्थ सहायक नहीं हैं, किन्तु उत्तमक्षमारूप अपनी निर्मल पर्याय ही अपने को सहायक है-ऐसा कहकर आचार्यदेव ने मंगलाचरण किया है।

नी की क्षमा मोक्ष का और अज्ञानी की क्षमा संसार का कारण है

जिन्होंने अपने चैतन्यस्वरूप के भाव द्वारा पुण्य-पाप दोनों को समान माना है और जिनके ज्ञायकदशा प्रगट हुई है, ऐसे मुनि का

चित्त धीर-वीर होता है। परिणति में अनन्त धैर्य प्रगट हुआ है इससे मन में क्षोभ नहीं होता और पुरुषार्थ में वीरता है, इसलिये वह स्वभाव में स्थिर रहने का कार्य करती है। 'बाह्य में यदि कोई निन्दा करे तो किसकी? और यदि स्तुति करे तो वह किसकी? बन्धन करे तो किसे? और यदि सेवा करे तो किसकी? यह शरीर तो मैं नहीं हूँ और मेरे आत्मा को कोई बन्धनादि के द्वारा हानि नहीं पहुँचा सकता।' ऐसा भान तो सम्यग्दृष्टि के होता है, परन्तु उसके पश्चात् विशेष पुरुषार्थ के द्वारा चारित्रदशा प्रगट होने पर विकल्प भी न उठे और सहजक्षमा प्रगट हो वह उत्तमक्षमा धर्म है। किन्तु कोई जीव मुझे लकड़ी मारे और मैं सहन करूँ-ऐसा मानकर जो क्षमा रखता है वह धर्म नहीं है। प्रथम तो लकड़ी शरीर को लगती है, तथापि 'मुझे लकड़ी लगी' ऐसा मानना ही मिथ्यात्व है। कठिन से कठिन लाठीबार सहन करे और बन्दूक की गोलियाँ नंगे शरीर पर बरसें उन्हें भी सहन करे तथापि ऐसा माने कि 'मैंने बहुत सहन किया है, इससे दूसरों का हित होगा, दूसरों के हित के लिये ही मैं क्षमा करता हूँ-' तो ऐसा मानने वाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसके किंचित् भी धर्म नहीं है, परमार्थतः तो उसके स्वरूप को अरुचिरूप महानक्रोध विद्यमान है। ऐसे जीवों की रागरूप क्षमा कभी भी मोक्ष की सहायक नहीं है, किन्तु वह तो संसार का ही कारण है। और ऊपर जो वीतरागी उत्तमक्षमा बतलाई है वही मोक्ष की सहायक है; उस उत्तमक्षमारूपचारित्र के द्वारा मुनिजन सम्पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जिनके सम्यग्दर्शन होता है उन्हें चारित्रदशा प्रगट करने के लिये अनन्तपुरुषार्थ करना शेष है। चारित्र है वह धर्म है; धर्म वीतरागतारूप है। सम्यक् आत्मभानपूर्वक स्वभाव के सेवनद्वारा वीतरागता प्रगट करना सो आराधना है, और वह मोक्षमार्ग है।

प्रथम पहिचान पश्चात् भावना

ऐसा उत्तमक्षमा धर्म प्रगट करने के लिये प्रथम तो उपयोग

स्वरूप आत्मा को क्रोधादि से भिन्न जानना चाहिये। इस पहिचान के पश्चात् ही उत्तमक्षमादि यथार्थ भावनाएँ होसकती हैं। ८२।

चैतन्यस्वरूप आत्मा की रुचि प्रगट करके शुभाशुभ भावों की रुचि छोड़ देने से जो वीतरागीभाव प्रगट होते हैं वह उत्तमक्षमा है। और यह उत्तमक्षमा साधक जीवों को मोक्षमार्ग में सहचरी है,–यह बात प्रथम श्लोक में बतलाई है। अब, उत्तमक्षमा धर्म से विरुद्ध–ऐसा जो क्रोधभाव है वह मुनीश्वरों को दूर ही से त्याग देना चाहिये–ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं:—

[बसन्ततिलका]

श्रामण्यपुण्यतरुरत्र गुणौघशाखा
पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा।
यातिक्षयं क्षणत एव घनोग्रकोप
दावानलात् त्यजत् तं यतयोऽत्र दूरम् ॥ ८३ ॥

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि–सम्यग्दर्शनादि गुणों से युक्त मुनिवर पवित्रवृक्ष के समान हैं, और उत्तमक्षमादि गुण उसकी शाखाएँ, पत्र और फूलों के समान हैं। अल्पकाल में ही इस वृक्ष पर मोक्षरूपी फल आने वाले हैं। किन्तु यदि क्रोधरूपी दावानल उसमें प्रवेश कर जाये तो वह मुनिदशारूपी वृक्ष कुछ भी फल दिये बिना बात की बात में नष्ट हो जाता है, इसलिये हे मुनिवरो! क्रोधादि को दूर से ही त्याग दो।

मुनिराज वृक्ष समान हैं, और सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र उसकी शाखाएँ हैं, एवं मोक्षदशा उसका फल है। उत्तमक्षमादि दस धर्म सम्यक्चारित्र के ही भेद हैं। सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष के बिना मोक्षरूपी फल नहीं आता। यदि उस यतिरूपी वृक्ष में क्रोधरूपी अग्नि लग जाये तो वह वृक्ष नष्ट होजाता है, और मोक्षफल नहीं

जाता। मुनिदशा मोक्ष की निकटतम साधक है। मुनि तो मोक्ष-फल आने की तैयारी वाला पका हुआ वृक्ष है, उत्तमक्षमा द्वारा मुनिवर अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि आत्म-स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानसहित क्षमा से च्युत होकर क्रोध करे तो उस क्रोधरूपी अग्नि द्वारा यतिरूपी वृक्ष जल जाता है। इस लिये क्रोध दूर से ही त्याग कर देने योग्य है, अर्थात् क्रोध होने ही नहीं देना।

यहाँ पर मुख्यतया मुनिओं के लक्ष्य से कथन है, श्रावक-गृहस्थ गौणरूप हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के भी अंशतः उत्तमक्षमा धर्म होता है। विकार होते हुए भी उससे रहित मेरा स्वरूप है-ऐसी प्रतीति-पूर्वक स्वभाव का आदर है और विकार का आदर नहीं है, इससे उनके उत्तमक्षमा है। स्वभाव को विकारयुक्त मानकर विकार का आदर करना और विकाररहित ज्ञानस्वभाव का अनादर करना-यही क्रोध है।

सम्यक्दर्शनपूर्वक विशेष स्वरूपस्थिरता करके जो मुनि हुए हैं, उन्हें अपने चारित्रस्वभाव में क्रोध को प्रवेश नहीं करने देना चाहिये। अनन्तानुबंधी इत्यादि तीनप्रकार के कषाय को तो नष्ट कर ही दिया है और उतनी उत्तमक्षमा प्रगट हो ही गई है, किन्तु अभी संज्वलन कषाय है उससे आत्मा के गुण की पर्याय जलती है। जो तीन कषाय दूर कर दिये हैं उन्हें तो आने ही नहीं देना चाहिये, और जो अत्यन्त मन्दकषाय रह गये हैं उन्हें भी नष्ट करके सम्पूर्ण वीतरागता करना चाहिये। यहाँ पर किसी अन्य के पास से क्षमा नहीं मांगना है। 'भाई! आप मुझे क्षमा करना'-ऐसा शुभपरिणाम सो उत्तमक्षमा नहीं है। दूसरे के पास से क्षमा मांगे किन्तु दूसरा क्षमा न दे, तो क्या यह जीव स्वतः क्षमाभाव नहीं कर सकता? वास्तविक क्षमा तो स्वतः अपने आत्मा को देता है। पहले आत्मा को रागयुक्त-विकारयुक्त

मानकर आत्मस्वभाव पर क्रोध किया, उस दोष की आत्मा इस-प्रकार क्षमा माँगता है कि हे आत्मा ! तुझे क्षमा हो। अब मैं तुझे क्षमा देता हूँ। तेरे अखण्ड ज्ञानस्वभाव में एक विकल्प भी न होने दूँगा। हे आत्मा ! क्षमा हो तेरे परमात्मस्वभाव को। अब मैं तेरे आदर को छोड़कर एक विकल्पमात्र का आदर नहीं करूंगा। इसप्रकार स्वतः अपने स्वरूप को जानकर अखण्डानन्दरूप से स्थिर रखने की भावना करते हैं। उसमें जितना राग दूर होकर वीतराग भाव प्रगट हुआ उतनी ही उत्तमक्षमा है, वह धर्म है और उसका फल मोक्ष है।

उत्तमक्षमा का पालन करने में श्री अरिहन्त समर्थ हैं। साधकदशा में उन्होंने ऐसी उत्तमक्षमा ग्रहण की कि विकल्प को भी छोड़कर वीतरागभाव धारण करके केवलज्ञान प्रगट किया। श्री पार्श्वनाथ भगवान मुनिदशा में थे और वे ध्यान में मग्न बैठे थे उस-समय कमठ ने आकर घोर उपसर्ग किया, परन्तु उन्होंने तो आत्म-स्वरूप की एकाग्रतारूप उत्तमक्षमा धारण करके अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट किया। उपसर्ग करने वाले कमठ के ऊपर द्वेष का विकल्प नहीं उठा और सेवा करने वाले इन्द्र के ऊपर राग का विकल्प नहीं है। एकरूप स्वभाव में लीनता होने पर सम्पूर्ण वीत-रागभाव प्रगट होकर केवलज्ञान होता है। ऐसा वीतरागभाव ही उत्तमक्षमा है। आत्मस्वरूप को समझकर उसका बहुमान करना ही उत्तमक्षमा की आराधना का यथार्थ पर्व है। मेरा ज्ञानस्वभाव अन्तरंग में सहज क्षमास्वरूप है, क्रोध की वृत्ति मुझमें है ही नहीं—ऐसे अपने स्वभाव के और क्रोध के भेदज्ञानपूर्वक स्वभाव की एकाग्रता सो सहजक्षमा है, और वही धर्म है। ऐसा क्षमाभाव जो आत्मा अपने में प्रगट करता है वही पर्व की यथार्थ आराधना करने वाला है।

उत्तमक्षमा को धारण करने वाले धर्मात्मा कैसी भावना करते हैं वह अब बतलाते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तिष्ठामो वयमुज्ज्वलेन मनसा रागादि दो[illegible]ज्झता
लोकः किंचदपि स्वकीयहृदये स्वेच्छाचरो मन्यता[illegible] ।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः [illegible]त्रापरेण द्विषा
मित्रैणापि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वयं लप्स्यते ॥८४॥

धर्मात्मा जीव उत्तमक्षमा धर्म का चिन्तवन करते हुए ऐसी भावना करते हैं कि–यह स्वेच्छाचारी लोक अपने हृदय में मुझे भला अथवा बुरा–जो चाहे माने, किन्तु मैं तो राग-द्वेषरहित होकर अपने उज्ज्वल ज्ञान में ही स्थित रहूँगा। उत्तमक्षमाके धारक पुरुषों को मात्र अपने आत्मा की शुद्धि ही साध्य है। इस जगत में अन्य मेरा बैरी हो अथवा मित्र हो–इससे मुझे क्या ? बैरी या मित्र मेरा तो कुछ भी नहीं कर सकते। जो द्वेषरूप या प्रीतिरूप परिणाम करेगा उसे स्वयं ही उसका फल मिल जायेगा।

धर्मात्मा भावना करता है कि–मेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है। मित्र के ऊपर राग अथवा शत्रु के ऊपर द्वेष करना हमारे हृदय में नहीं है। वास्तव में तो इस संसार में कोई किसी का शत्रु या मित्र है ही नहीं। यह स्वेच्छाचारी लोक हमें भला कहे या बुरा, उससे हमें क्या ? कोई भी बैरी हमारे आत्मा को हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है, एवं कोई भक्त मेरे आत्मा को लाभ नहीं करते। भक्तजन यदि भक्ति करते हैं तो अपने शुभराग के कारण, और यदि बैरी निन्दा करते हैं तो वे अपने द्वेषपरिणाम को लेकर करते हैं। मैं तो दोनों को जानने वाला हूँ, मेरे ज्ञान में तो दोनों ज्ञेयरूप हैं। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव की भावना के बल से ज्ञानी सन्तों के राग-द्वेषरहित क्षमाभाव होता है, वही उत्तमक्षमा धर्म है। जिसने अपने ज्ञानस्वभावकी भावना न की हो उस जीवके कदाचित् बाह्य में शुभपरिणाम दिखलाई देते हों, किन्तु वह शुभराग को

आत्मा का स्वरूप मानकर उस ज्ञानस्वभाव के प्रमादरूप अनन्त क्रोधस्वभाव का सेवन करता है। सम्यग्दर्शनसहित जो क्षमा है वही उत्तमक्षमा है और वही धर्म है।

उत्तमक्षमा धर्म को धारण करने वाला धर्मात्मा कैसा चिंतवन करता है वह अब विशेषरूप से बतलाते हैं:—

स्रग्धरा

दोषानाघुष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी
मत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाऽखिलमिह हि जगज्जायतां सौख्यराशि-
र्मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि ॥८५॥

मेरे दोषों को सबके समक्ष प्रगट करके संसार में दुर्जन सुखी हो, धन के लोलुपी मेरा सर्वस्व ग्रहण करके सुखी होजाओ, शत्रु मेरा जीवन लेकर सुखी हो और जिसे मेरा स्थान लेना है वह स्थान लेकर सुखपूर्वक रहे, तथा जो राग-द्वेषरहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें वे मध्यस्थ रहकर सुखी रहें, इसप्रकार समस्त जगत् सुखपूर्वक रहे, किन्तु किसी भी संसारी जीव को मुझसे दुःख न पहुँचे मैं ऐसी पुकार सबके समक्ष करता हूँ।

इसमें समस्त संसार के जीवों से निरपेक्ष होकर, अपने आत्मा में वीतरागभाव से रहने की भावना है। मेरे ज्ञान में राग-द्वेष करने का स्वभाव ही नहीं है। स्वत: अपने आत्मा की आराधना की उग्रता करते हुए मुनि पुकार करते हैं कि—इस जगत के जीव जिसमें उन्हें सुख मिले वैसे ही वर्तें, किन्तु मैं अपने ज्ञाताभावरूप क्षमा को नहीं छोडूंगा। कोई मेरे दोष बतलाकर, या पिछी-कमण्डल लेकर, अथवा स्थान लेकर, भले ही सुख माने और अन्य कोई वीतराग भावरूप रहकर सुखी हो, किन्तु मुझे दोनों पर समभाव है। समस्त जगत सुखी रहे। ऐसी भावना

नहीं है कि जगत का कोई भी जीव दुःखी हो, इसप्रकार वास्तव में स्वतः वीतरागरूप रहना चाहते हैं।

मुनियों के पास धन इत्यादि तो होते नहीं, किन्तु पिछी–कमण्डल अथवा पुस्तक होती है। उसे यदि कोई ले जाता है तो भले ही ले जाये। पिछी–कमण्डलादि मेरे नहीं हैं और उन्हें ले जाने वाले पर मुझे द्वेष नहीं है; मैं तो ज्ञायक हूं। वीतरागभाव से मध्यस्थ रहने वाले ज्ञानियों पर मुझे राग नहीं, और प्राण लेने वाले अज्ञानी पर द्वेष नहीं है। मेरे निमित्त से कोई दुःखी न हो। मैं तो जगत में जो कुछ होता है उसे जानता रहूं और अपने आत्मा के वीतरागभाव में स्थिर रहूं, इसप्रकार सम्पूर्ण परिग्रहरहित ज्ञायकभाव की भावना की पुकार की है।

मुनिदशा में स्वरूपानुभव की एकाग्रतामें स्थिर होकर क्रोधादि भाव होने ही न देना सो उत्तमक्षमा है। और गृहस्थ के क्रोधादिभाव होते अवश्य हैं, किन्तु क्रोधादिभाव होने पर भी 'मेरा ज्ञानस्वरूप इन क्रोधादि से भिन्न है, क्रोध मेरे स्वरूप में नहीं है, वास्तव में मेरा ज्ञान तो क्रोध का भी ज्ञाता है'–ऐसे क्रोध से भिन्न अपने ज्ञानस्वरूप का श्रद्धा-ज्ञान स्थिर रखना सो भी उत्तमक्षमा है। जो राग को अपना स्वरूप मानता है वह अपने आत्मा की हिंसा करने वाला है, वह अनन्त क्रोधी है। यहांपर मुख्यतया तो मुनिदशा के धर्म की बात है, किन्तु गौणरूप से सम्यग्दृष्टि श्रावक की क्षमा आजाती है, ऐसा जानना चाहिये।

श्री पद्मनन्दि आचार्य ने उत्तमक्षमा सम्बन्धी पांच श्लोक कहे हैं, उनमें से चार पूर्ण हुए। अब, वीतरागभाव को छोड़कर यदि राग-द्वेष की वृत्ति उठे तो स्वभाव की उग्र भावना द्वारा उस वृत्ति को नष्ट कर देना चाहिये, वह उत्तमक्षमा है–ऐसा अन्तिम श्लोक में कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

किं जानासि न वीतरागमखिलं त्रैलोक्य चूडामणिं
किं तद्धर्ममुपाश्रितं न भवता किंवा न लोको जड़ः
मिथ्यादृग्भिरसज्जनैरपटुभिः किंचित्कृतोपद्रवा—
द्यत् कर्मार्जनहेतुमस्थिरतया बाधां मनो मन्यसे ॥ ८६ ॥

अपने स्वरूप की वीतरागी स्थिरता में से बाहर निकलकर पर-सन्मुख वृत्ति जाने पर किंचित् राग या द्वेष का विकल्प उठे तो उसे तोड़कर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करने के लिये स्वतः अपने को सम्बोधन कर कहते हैं कि रे मन ! मिथ्यादृष्टि दुर्जन मूर्ख-जनों द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों से चंचल होकर कर्म आने में कारणभूत ऐसी वेदना का तू अनुभव करता है, तो क्या तू अपने त्रिलोक में सर्वश्रेष्ठ पूजनीय वीतरागभाव को नहीं जानता ? उसीप्रकार तूने जिस धर्म का आश्रय ग्रहण किया है क्या तू उस धर्म को नहीं जानता ? और यह समस्त लोक अज्ञानी-जड़ है, क्या इस बात का तुझे ज्ञान नहीं है ? अर्थात् तीनलोक में वीतरागभाव ही सर्व श्रेष्ठ है—ऐसा जानकर—सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक वीतरागभावरूप चारित्र ही धर्म है उसे पहिचानकर, और यह लोग जड़—मूर्ख हैं—ऐसा समझकर हे जीव ! तू मूर्ख अज्ञानियों द्वारा किये जाने वाले उपसर्गों से अपने वीतराग भाव को मत छोड़, राग-द्वेष करके दुःखी न हो।

उत्तमक्षमा का सम्बन्ध पर-जीवों के साथ नहीं है। परजीवों को क्षमा करना अथवा परजीव अपने को क्षमा करे—ऐसी क्षमा की बात नहीं है। 'समस्त परजीव अपने को क्षमा करें तभी क्षमा कहलाती है'—यदि ऐसा हो तो जहाँतक अन्य जीव क्रोध को दूर करके क्षमा-भाव न करें तबतक अपने भी वीतरागी क्षमाभाव नहीं हो सकेंगे। अर्थात् क्षमा तो पराधीन हुई, किन्तु पराधीनता में कभी भी धर्म नहीं होसकता। यहाँ तो स्वतः अपने ज्ञानस्वभाव को रागादि

विकारों से भिन्न जानकर, चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेष न करना और वीतरागी ज्ञाताभावरूप से स्थिर रहना, सो ही उत्तमक्षमा है, यह स्वाधीन है। परजीव क्षमा दें या न दें तो भी स्वतः अपने में उत्तम क्षमाभाव प्रगट कर सकता है।

यहां तो मुनिदशा में शुभ या अशुभ विकल्प उठे तो वह भी उत्तमक्षमा में भंग है, उसको टालकर वीतराग भाव की भावना करते हुए मुनिवर स्वतः अपने को संबोधन करके कहते हैं कि—रे आत्मा ! तू अज्ञानी जीवों द्वारा किये गये उपद्रवों से दुःखित होकर क्लेश करता है, तो क्या तू त्रिलोकपूज्य अपने वीतरागभाव को नहीं जानता ? कि जिससे तू वीतरागता को छोड़कर ऐसा द्वेषभाव करता है ?

मात्र वीतरागभाव ही उत्तमक्षमा धर्म है। 'मैं वीतराग होऊं और राग को दूर करदूं'—ऐसे विकल्प की मुख्यता नहीं है, विकल्प क्षमा नहीं है, किन्तु स्वभाव की एकाग्रता में वीतरागीरूप से परिणमित होजाना और राग-द्वेष की उत्पत्ति ही न होने देना सो वह उत्तमक्षमा है। जितने रागादि के विकल्प उठते हैं उतना उत्तमक्षमा में भंग पड़ता है। ऐसा उत्तमक्षमा धर्म का स्वरूप है। उसका सम्पूर्णरूप से पालन न कर सके तो भी उसके यथार्थ स्वरूप को पहिचान कर श्रद्धा-ज्ञान करना और जो रागादिभाव होते हैं उनका आदर न करना, वह भी उत्तमक्षमा धर्म का अंश है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अखण्ड चैतन्यस्वभाव की ओर का बल स्थिर रहते हुए जितने अंश में क्रोधादिभाव न हों उतने अंश में सहज क्षमा है।

और फिर इस श्लोक में आचार्यदेव ने लोगों को जड़ कहा है, वहाँ लोगों पर द्वेष नहीं है, किन्तु अपने आराधकत्व की उग्रता है। अपना ज्ञान केवलज्ञान होने के लिये उछल रहा है, लोग क्या कहते हैं वह देखने की आवश्यक्ता नहीं है। लोग तो जड़समान हैं, चाहे जो कहेंगे; किन्तु हे मुनि ! केवलज्ञान प्राप्त करने की

तत्परता में तुझे जो भी उपसर्ग आयें उनके सन्मुख क्या देखना है? तुझे अपने में जो शुभविकल्प उठें उनका भी बल नहीं है, और अपनी पर्याय के सन्मुख भी तुझे नहीं देखना है, किन्तु मात्र ज्ञायक स्वभावपूर्ण है उसीमें लक्ष्य करके लीन होजा। इसप्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव की भावना के बल से चैतन्यसमुद्र फटकर मानों इसी-समय केवलज्ञान होगा—ऐसी दशा मुनिराज के प्रवर्तमान है। मुझमें पूर्ण ज्ञायकत्व है, उससे मैं पूर्ण ज्ञायक रहकर समस्त जीवों के प्रति क्षमा करता हूं, सबके प्रति जो राग-द्वेष है उसे छोड़कर मैं वीतरागभाव से अपने स्वभाव में रहता हूं, मुझे पर की अपेक्षा है और स्वभाव की एकाग्रता है। इसप्रकार अपने ज्ञायकस्वभाव की रुचि और एकाग्रता करके आराधना करना सो ही महान पर्व है।

पर में लक्ष्य जाकर कल्पना उठे कि 'ऐसा क्यों?' अथवा उपसर्ग पर लक्ष्य जाये कि मैं उपसर्ग सहन करूं, यदि ऐसी वृत्ति उठे तो उसे तोड़ने के लिये कहते हैं कि अरे मुनि! स्वभाव की एकाग्रता द्वारा तुझे केवलज्ञान क्यों नहीं, और यह वृत्ति का उत्थान क्यों? ऐसे अप्रतिहत भाव से आराधना को स्थिर रखना उसका नाम मुनि की उत्तमक्षमा है।



नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान ही उत्तममार्दव धर्म का मूल है–ऐसा यहां पर बताया है।

जाति–कुल आदि से भिन्न अपना चैतन्यस्वरूप जानने के पश्चात् सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा गृहस्थ को अस्थिरता के कारण कुलमद इत्यादि की वृत्ति उठती है, किन्तु धर्मात्मा के रागरहित स्वभाव में एकता के बल से उसका निषेध है, वह राग को अपना स्वरूप नहीं जानता, राग का आदर नहीं है, किन्तु स्वभाव का ही आदर है, इससे परमार्थतः तो वह सम्यग्ज्ञान के द्वारा उसका ज्ञाता ही है। इसलिये यथार्थतया धर्मी जीवों के जातिमद आदि नहीं होते। धर्मीजीव को माता–पिता से अथवा कुल जाति इत्यादि से पहिचानना सो ठीक नहीं है, किन्तु उसके अंतरंग के श्रद्धा–ज्ञान के द्वारा उसे पहिचानना यथार्थ है। धर्मी जीव किसी भी बाह्य पदार्थ से अपना बड़प्पन नहीं मानते, किन्तु स्वभाव के सम्यक्श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक अभेदत्व होकर जितना राग दूर होगया उतना बड़प्पन है, और जितना राग शेष रहा उतनी हीनता है–ऐसा जानते हैं। बाह्यपदार्थों से अपने को बड़ा मानना सो मद है, और मेरी जाति हलकी, मेरा कुल नीचा, इत्यादि प्रकार बाह्यपदार्थों से अपने को हीन मानना वह भी मद है, क्योंकि उसने जाति–कुल में अहंपना किया है।

प्रथम सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान करने के पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा स्वरूपस्थिरता प्रगट करके संत–मुनिदशा में जाति–कुल आदि का विकल्प तोड़कर वीतरागी स्थिरता बढ़ाने की बात है। किन्तु उत्तम-निरभिमानता किसे कहा जाये इसी का जिसे भान नहीं है, उसे उत्तममार्दव धर्म कहां से हो? आत्मा नित्य ज्ञानघन है, देहादि जो अनित्यसंयोग हैं वे आत्मा का स्वरूप नहीं हैं। जिसप्रकार 'घी का घड़ा' ऐसा बोला जाता है, किन्तु वह यथार्थ वस्तुस्वरूप नहीं है, वैसे ही ज्ञानी को पहिचानने के लिये ऐसा कहा जाता है कि यह माता–

पिता, यह कुल यह जाति । किन्तु वास्तविक स्वरूप ऐसा नहीं है । ज्ञानी को उसकी आत्मा से पहिचानना ही यथार्थ पहिचान है । आत्मा का संसार माता, पिता, स्त्री, शरीरादि में नहीं है किन्तु अपनी पर्याय में ही जो अज्ञान और राग-द्वेष है वह संसार है । आत्मा का संसारभाव आत्मा की दशा में ही है । अज्ञानी जीव भ्रम से ऐसा मानता है कि यह मेरी माता और यह मेरा पिता इत्यादि । यह उसका भ्रम ही संसार है । स्वतः अपने को चैतन्यस्वरूप से नहीं जाना एवं शरीरयुक्त माना, इससे शरीर के सम्बन्धी माता पिता को अपना ही माता-पिता मानता है, और उसीसे जीव को शरीर के रूप इत्यादि का अभिमान होता है ।

वास्तव में तो स्वतः चैतन्यस्वरूप है और माता-पिता इत्यादि का आत्मा भी चैतन्यस्वरूप है, कोई आत्मा शरीररूप नहीं है, तब फिर कौन किसके माता-पिता और कौन किसका पुत्र ? जिनके ऐसी दृष्टि है, उन्हीं के पर का अहंकार दूर होता है । यह शरीर तो जड़ परमाणु है-मिट्टी है । जो जीव शरीर के बल का अभिमान करता है वह जड़ का स्वामी बनता है, शरीर से निरन्तर भिन्न चैतन्यस्वरूपी अरूपीस्वभाव हूँ, उसे ऐसा भान नहीं है । चैतन्यस्वरूपका अनादर करके शरीर के बल इत्यादि का अहंकार करनेवाला जीव महान हिंसक है । शरीर मेरा है, शरीर की क्रिया मैं करता हूँ, और शारीरिक शक्ति अच्छी हो तो धर्मध्यान बराबर हो सकता है-ऐसा जो मानता है वह जीव आत्मा की हिंसा करनेवाला है । आत्मा शरीरादि का कुछ भी नहीं कर सकता । आत्मा का बल (पुरुषार्थ) या तो अज्ञानभाव से पुण्यपाप में अटक जाता है या असंग स्वभाव को जानकर उसमें रागद्वेषरहित स्थिरता प्रगट करता है ।

ज्ञानी जीव जानता है कि पूर्ण ज्ञान और आनन्द ही मात्र मेरा रूप है । जाति, कुल, शरीर, बल, विद्याएँ अथवा अपूर्णज्ञान-वे कोई भी मेरा रूप नहीं हैं । जहाँ ऐसा भिन्नत्व यथार्थतया जाना वहीं

पर का अहंकार दूर होगया है। पश्चात् जो अल्पराग की वृत्ति उठे उसका ज्ञानी के निषेध है। यहाँ ऐसी बात है कि उस राग की वृत्ति को उठने ही नहीं देना और वीतरागरूप स्थिर रहना सो उत्तममार्दव धर्म है, और वह धर्म मोक्षमार्ग में विचरनेवाले मुनिओं को सहचर रूप होता है।

जैन अर्थात् जीतनेवाला; आत्मा का पर से भिन्नस्वरूप जानकर जिसने मिथ्यात्व-अज्ञान को जीत लिया है अर्थात् नष्ट किया है, वैसे ही जिसने आत्मस्वरूप में स्थिरता द्वारा राग-द्वेष को जीत लिया है वही जैन है। जो जैन होता है वह 'पर का मैं करता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करता, राग-द्वेष को अपना स्वरूप नहीं मानता।

ज्ञानियों के ज्ञानमद नहीं होता। शास्त्र का ज्ञान या अवधि-मनःपर्ययज्ञान हो, उसका ज्ञानी को अभिमान नहीं होता। जिन्होंने पूर्णज्ञानस्वभाव ही जाना है उन्हें अपूर्णज्ञान में संतोष या उसका अभिमान कैसे होगा? बारहवें गुणस्थानतक का समस्त ज्ञान अल्प है, केवलज्ञान के अनन्तवें भाग बराबर है, उस तुच्छपर्याय का ज्ञानी को अभिमान नहीं है, किन्तु अनन्त चैतन्यस्वभाव की महिमा और विनय से स्वभाव में लीन होकर अपूर्णज्ञान का विकल्प छोड़कर केवलज्ञान प्रगट करते हैं। थोड़े से शास्त्र बाँचे और थोड़ा सा सुना, वहाँ तो 'मैं बहुत जानता हूँ' जिसे ऐसा अभिमान होता है वह जीव पर्यायदृष्टिवाला मिथ्यादृष्टि है, उसने पूर्णस्वभाव को नहीं जाना है, इससे किंचित् ज्ञातृत्व की महिमा और अभिमान होता है। कोई जीव सत्स्वभाव समझे बिना मंदकषाय करके निरभिमानता रखे तो वह पुण्यबंध का कारण है, यहाँ उसकी बात नहीं है, किन्तु धर्मात्मा के स्वभाव की जागृतिपूर्वक वीतरागभाव प्रगट होने पर मद का विकल्प ही नहीं होता, वही सच्चा मार्दवधर्म है। स्वभाव को जाने बिना पर्याय का अभिमान दूर नहीं होता और उसके धर्म नहीं होता।

इन दस धर्मों का वर्णन करने वाले श्री पद्मनन्दि आचार्य महान सन्तमुनि हैं, छट्ठे-सातवें गुणस्थान की श्रेणी में झूल रहे हैं, अधिकांश वीतरागता प्रगटी है, और अल्पराग रह गया है, इससे वह कहते हैं कि अहो ! सिद्ध भगवान का गुणगान हम क्या कर सकते हैं ? हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है, हम तो मूढ़मति-जड़बुद्धि हैं । जहां तक पूर्ण केवलज्ञान परमात्मदशा को प्राप्त नहीं किया वहांतक पामरता है । आचार्य-सन्त तो महा ज्ञान के सागर हैं, अगाध बुद्धिवाले हैं, तीव्र आराधकदशा प्रगटी है, तथापि उनके कितनी निरभिमानता है ? ज्ञान का किंचित् भी गर्व नहीं करते । अपूर्ण और पूर्णदशा के विकल्प को तोड़कर बारम्बार स्वरूप में लीन होजाते हैं—इसका नाम मार्दव धर्म है । पर्यायदृष्टि को छोड़कर अखण्डस्वभाव के श्रद्धा ज्ञान को स्थिर रखना यह गृहस्थ का धर्म है । किन्तु शुभराग करना या पूजा-भक्ति करना वह कहीं गृहस्थ का धर्म नहीं है । अशुभराग से बचने के लिये धर्मी गृहस्थ के पूजा-भक्ति इत्यादि का शुभराग होता अवश्य है, किन्तु वह शुभराग धर्म नहीं है, किन्तु रागरहित चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जितना राग दूर हुआ उतना धर्म है । जो राग रहा वह धर्म नहीं है ।

ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वरूप में जागृत हैं । मान-अपमान की वृत्ति मेरे स्वरूप में नहीं है, यह समस्त संसार इन्द्रजाल के समान और स्वप्नवत् है अर्थात् मेरे स्वभाव में समस्त जगत का अभाव है, मुझे जगत में किसी के साथ सम्बन्ध ही नहीं है—ऐसा जाननेवाले ज्ञानियों के मान कहां से होगा ? अर्थात् नहीं ही होगा । मुनि के तो मान की वृत्ति ही नहीं उठती, वह निरभिमानता है, और गृहस्थ के किसी मानादि की वृत्ति होजाये तो भी वह उसका ज्ञाता ही है, मानादि से भिन्नस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान की ही दृढ़ता उसे होती है । नित्य अबंध चैतन्यस्वभाव हूं, ऐसे स्वभाव की प्रभुता के समक्ष ज्ञानी को अपूर्णपर्याय की पामरता भासित होती है, उन्हें

क्षणिकपर्याय का अभिमान नहीं होता । उनके ही स्वभाव के आश्रय से वीतरागभाव होने पर उत्तममार्दव धर्म होता है ।

अब कहते हैं कि स्व-पर के भिन्नत्व के विवेक द्वारा शरीर की अनित्यता का चिंतवन करनेवाले मुनियों को किसी भी पदार्थ में अहंकार करने का अवसर ही नहीं मिलता:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दंदह्यमानेऽग्निभिः
कायादौतुजरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थांतरम् ।
इत्यालोचयतो हृदिप्रशमिनः भास्वद्विवेकोज्वले
गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ।। ८८ ।।

कोई महल अत्यन्त सुन्दर, शोभायमान हो किन्तु यदि वह सब ओर से अग्निद्वारा सुलग रहा हो तो उसके बचने की अंश-मात्र आशा नहीं है, वैसे ही यह शरीर वृद्धावस्थासहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था धारण करता है, इसप्रकार अपने हृदय में निरन्तर सम्यग्ज्ञानरूपी उज्ज्वल विवेक से शरीर को अनित्यता का चिन्तवन करनेवाले मुनि को जगत के समस्त पदार्थों में गर्व करने का अवसर ही किस प्रकार है ? अर्थात् जो ध्रुव नित्य चैतन्यस्वभाव को जानकर और शरीर को अनित्यता को समझकर, निर्मल आत्मध्यान में मग्न हैं उन मुनिओं को जगत में किन्हीं भी पदार्थों का गर्व होता ही नहीं ।

अत्यन्त मनोहर उद्यानयुक्त भवन हो, वह चारों ओर से अग्नि में जलने लगे और उसके बचने की किंचित्मात्र आशा न हो तो लोग उसका स्वामित्व छोड़कर बाहर भागते हैं—ऐसा अनि-त्यता का दृष्टांत देकर आचार्यदेव समझाते हैं कि यह शरीर अनित्य है, वृद्धावस्थायुक्त है, निरंतर अपनी दशा को परिवर्तित करता हुआ वह जीर्णता को प्राप्त होता है, जैसी अवस्था आज

हो, वैसी कल दिखलाई नहीं देती, ऐसे इस अनित्य शरीर को किसी भी प्रकार से रोका नहीं जा सकता। जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है वहाँ अन्य कौन से पदार्थ अपने हो सकते हैं ? आत्मा का चैतन्यस्वभाव ही ध्रुव और नित्य एकरूप है, वह कभी जीर्ण नहीं होता और उसमें अग्नि भी नहीं लगती। इसप्रकार शरीरादि की अनित्यता और अपने चैतन्यस्वभाव की नित्यता का अपने अन्तरंग में भेदज्ञान द्वारा विचार करने वाले जीवों को इस जगत में किसी भी पदार्थ पर गर्व होने का अवकाश ही नहीं है । जहां शरीर को ही पर जान लिया वहां अन्य किसका अहंकार करेगा ?

शरीर अपने स्वभाव से ही निरंतर एक अवस्था को बदलकर दूसरी अवस्था धारण करता है। वृद्धावस्था हुई उसका कर्ता आत्मा नहीं है। धर्मी जीव के शरीर की किसी भी अवस्था का अहंकार नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वतः तो अरूपी चैतन्यस्वरूप है, और शरीर जड़-परमाणुओं से निर्मित है। आत्मा ने कभी भी शरीरादि का स्पर्श नहीं किया, वह तो अस्पर्शी है।

शरीर क्रमशः क्षण-क्षण में नाश को प्राप्त होगा, वह स्थायी नहीं रहेगा। मैं त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, मेरे स्वरूप के आश्रय से मेरी निर्मल दशा प्रतिक्षण में बदलती है। अपने स्वभाव के आश्रय से बदलकर जो केवलज्ञान दशा होगी, वह तो द्रव्य में अभेद एकाकार होकर सदा ऐसी की ऐसी रहेगी, किन्तु शरीर की कोई भी अवस्था मेरे साथ रहने वाली नहीं है। ऐसा जानकर अपने ज्ञान में स्थिरता प्रगट करके जिन धर्मात्माओं ने देहादि के अभिमान का विकल्प छोड़ दिया है और स्वभाव की दृढ़ता को प्राप्त किया है उनके उत्तममार्दव धर्म होता है।

हिलना-डुलना, बोलना, स्थिर रहना, मौन रहना, खाना-पीना इत्यादि आत्मा नहीं करता, वह सब तो शरीर की क्रियायें हैं । वे

क्रियाएँ मैं करता हूं जो ऐसा मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसे जड़ का अहंकार है। देह के परमाणुओं की पर्याय समय-समय पर अपने आप ही बदलती है, उसके साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है। मेरी पर्याय का सम्बन्ध अपने त्रिकाली द्रव्य के साथ है। निर्मल ज्ञान-दर्शन और चारित्ररूप मेरी दशा प्रतिसमय बदलकर ध्रुव-स्वभाव में एकता बढ़ती जाती है। इस प्रकार स्वभाव की एकता होने से पर का अभिमान ज्ञानी को कहां से हो ? अहो ! मुनिवरों को अनेक ऋद्धियां प्राप्त हुई हों, अवधि-मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ हो, तथापि अभिमान का किंचित् विकल्प भी नहीं होता, उलटे नम्र होकर, स्वभावोन्मुखता द्वारा पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करते हैं। मुनि को पर्याय की ओर लक्ष्य जाकर विकल्प उठे कि 'केवलज्ञान प्रगट करूं' तो वह भी राग है। ऐसे विकल्प को भी तोड़कर जो वीतरागी स्वरूपस्थिरता है वह उत्कृष्ट मार्दव धर्म है और वही मुक्ति का कारण है।

मेरे उपदेश से दूसरे ने धर्म प्राप्त किया, अथवा मैं किसी अन्य को धर्म प्राप्त करादूं-ऐसी बुद्धि ज्ञानियों के नहीं होती। वाणी जड़ है, उस वाणी का कर्ता ही आत्मा नहीं है। तब फिर दूसरे को धर्म प्राप्त करादूं-यह बात कहां रही ? इसलिये पर से भिन्न अपने स्वरूप को पहिचानकर मुनिवरों को निरंतर ज्ञायक साक्षीस्वरूप आत्मा के निर्मल स्वभाव का ही ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार उत्तममार्दव धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

३—उत्तमआर्जव धर्म

भाद्रपद शुक्ला—७

आज दशलक्षण पर्व का तीसरा दिन है, यह उत्तमआर्जव धर्म का दिन कहलाता है। उत्तमआर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता। आत्मा के ज्ञायकस्वरूप में कपट का भाव ही उत्पन्न न होने देना सो उत्तम सरलता है। आत्मा ज्ञान-आनन्द की मूर्ति, क्रोध, मान, माया, लोभ रहित है, उसे यथारूप (जैसा है वैसा) समझना और श्रद्धा में वक्रता न करना सो सम्यग्दर्शन-रूप सरलता है। और चैतन्यस्वरूप को जैसा है वैसा न मानकर स्वरूप की वक्रता करके पुण्य-पापयुक्त मानना सो अनन्त कपट है। किसी पर के आश्रय से अथवा पुण्यपरिणाम से आत्मा को लाभ मानना सो वक्रता है, अनार्यता है। आर्य अर्थात् सरल। जैसा सहज ज्ञायकमूर्ति आत्मस्वरूप है वैसा ही मानना, किंचित् विपरीत न जानना सो सरलता है। और चैतन्यस्वरूप की प्रतीति में वक्रता करके किसी विकल्प या व्यवहार के आश्रय से लाभ मानना सो अनार्यता है। व्यवहार रत्नत्रय भी रागरूप है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का ज्ञायकस्वरूप पुण्य-पापरहित है, व्यवहार रत्नत्रयरूप पराश्रितभाव से उसे लाभ मानना सो अनन्त कपट का सेवन है। और उस व्यवहार का आश्रय छोड़कर निश्चय शुद्ध ज्ञातास्वभाव को जानना-मानना और उसमें स्थिर होना सो उत्तमआर्जव धर्म है। स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान होने के पश्चात् मुनिदशा में जो व्यवहार रत्नत्रय की वृत्ति उठे वह राग है, वह

उत्तमआर्जव धर्म नहीं है; किन्तु रागरहित होकर जितनी स्वरूप-स्थिरता हुई उतना ही उत्तमआर्जव धर्म है। वास्तव में तो आत्मा के वीतरागभाव में ही उत्तमक्षमादि दसों धर्म आजाते हैं। दसों धर्मों में वीतरागभाव एक ही प्रकार का है, किंतु वह वीतराग-भाव होने से पूर्व क्षमा आदि जिसप्रकार का विकल्प होता है उसीके अनुसार उत्तमक्षमादि नामों से उस वीतरागभाव को बत-लाया जाता है। और उस शुभविकल्प को उपचार से उत्तम-क्षमादि धर्म कहा जाता है। आचार्यदेव उत्तमआर्जव धर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

हृदि यत्तद्वाचि वहिः फलति तदेवार्जवंभवत्येतत् ।
धर्मो विकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ ॥८९॥

जो बात मन में हो वही वचन द्वारा प्रगट करना उसे आर्जवधर्म कहते हैं, और उससे विरुद्ध—अर्थात् माया से दूसरे को ठगने का परिणाम सो अधर्म है। इनमें से आर्जव धर्म स्वर्ग का और अधर्म नरक का पंथ है। जैसा हृदय में हो वैसा ही कहने का परिणाम तो शुभपरिणाम है; वाणी से भिन्नस्वरूपी हूं, और जो शुभपरिणाम हैं वह मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसे सम्यक्स्वभाव के भानपूर्वक जिसके शुभ का निषेध होता है उसके शुभपरिणाम को व्यवहार से उत्तम-आर्जव धर्म कहते हैं। परमार्थ से तो जैसा शुद्धआत्मस्वभाव जाना है वैसा ही परिणमन पर्याय में होजाना सो ही उत्तमसरलता धर्म है। जैसा स्वभाव है वैसा हो परिणमित होगया, किंतु किंचित्मात्र वक्रता (विकार) नहीं हुई वह परमार्थ से उत्तमआर्जव धर्म है। और उस स्वभाव में विकृति होकर जितना रागादि उत्पन्न हो उतना उत्तमआर्जव धर्म में भंग है।

यहाँ आर्जव धर्म के फल से स्वर्ग की प्राप्ति कही है। सम्य-ग्दर्शनपूर्वक राग का नाश करके जितना वीतरागभावरूप आर्जव

धर्म प्रगट किया है वह तो मोक्ष का कारण है, किन्तु इससमय पूर्ण वीतरागता नहीं है और राग रह जाता है इससे उस शुभरागरूप आर्जवधर्म के फल में स्वर्ग मिलता है। राग को लेकर बीच में भव धारण करने पड़ते हैं; परन्तु जिन्हें स्वभाव का भान नहीं है और धर्म का अनादर करके वक्रता से वर्त रहे हैं वे तो नरक-गति में जाते हैं। आत्मस्वभाव को विपरीत मानना ही सबसे बड़ी वक्रता है। सरलता के शुभपरिणाम या वक्रता के अशुभपरिणाम, इन दोनों से रहित एक ज्ञायकस्वरूपी आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान को स्थिर रखना सो धर्म है, वह धर्म प्रत्येक गृहस्थ के हो सकता है। और ऐसे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक जिनके आत्मा में अत्यंत सर-लता प्रगट हो गई है उनके उत्तमआर्जव धर्म है। चारित्रदशा में कपटभाव तो होने ही नहीं देना और 'सरलता करूं' ऐसा शुभभाव हो वह भी छोड़कर वीतरागी सरलता प्रगट करना उसका नाम उत्तमआर्जव धर्म है।

अब, आचार्यदेव कहते हैं कि मायाचार करने से अहिंसा इत्यादि उत्तम गुणों का भी लोप हो जाता है:—

(शार्दूलविक्रीड़ित्)

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपिच्छायाविघातं गुणे-
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः शमादिष्वलम् ।
सर्वे तत्र यदासते विनिभृता क्रोधादयस्तत्त्वत-
स्तत्पापंवत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरंभ्राम्यति ॥ ९० ॥

यदि एकबार भी मायाचारी की जाये तो वह अत्यंत कठिनाई से संचित किये हुए मुनि के गुण सत्य-अहिंसा आदि को ढक देती है, अर्थात् मायाचारी पुरुष के अहिंसादि गुण भी आदरणीय नहीं रहते। और उस मायाचाररूपी मकान में क्रोधादि कषायें भी छिपी रहती हैं; उस मायाचार से उत्पन्न हुआ पाप जीव को अनेकप्रकार की

दुर्गतियों में भ्रमण कराता है। इसलिये मुनियों को मायाचार उत्पन्न ही न होने देना चाहिये।

जो अपने रागादि दोषों को दोष के रूप में नहीं जानता और उन्हें धर्म मानता है, वह वास्तव में मायाचारी है। अपने दोष को छिपाने का भाव सो मायाचार है। जिसे सज्जन पुरुषों की यथार्थ बात नहीं रुचती और अपने दोष की बात सुनकर कहते हैं कि 'अरे ! क्या हम कपटी हैं ? मेरे कहने का आशय दूसरा था और आप कुछ दूसरा ही समझे हैं।' ऐसा कहकर जो अपना बचाव करना चाहता है वह पापी—मायाचारी है। ऐसे जीव में यदि अहिंसा—ब्रह्मचर्यादि हों तो भी वास्तव में वे प्रशंसनीय नहीं हैं। मुनि के भी जितने अंश में राग होता है उतने अंश में उत्तमक्षमा—निरभिमानता इत्यादि धर्मों में कचास है। पहले अपने को सत् की कुछ भी प्रतीति नहीं थी और जिन सत्पुरुष के पास से अपूर्व सत् की प्रतीति हुई उन सत्पुरुष के उपकार को न माने, अपने बड़प्पन के लिये उनका नाम आदि छिपाये, उन्हें याद न करे, प्रगट न करे तो वह जीव कपटी है, वास्तव में उसने अपने स्वभाव को ही छिपाया है।

यहाँपर मुख्यतया मुनिदशा की बात है। किंतु श्रावक-गृहस्थों को भी स्वभाव के भानपूर्वक मायारहित उत्तम, सरलस्वभाव प्रगट करने का प्रयत्न करना चाहिये, और उत्तमक्षमादि धर्मों का जितना होसके उतना पालन करना चाहिये। मुनि को कुछ दोष लग गया हो और वह दोष यदि गुरु के पास प्रगट करने में संकोच करे तो वह माया है। दोष छिपाने की बुद्धि से गुरु के पास प्रगट न करे और यदि अपनेआप प्रायश्चित ले या 'मैं अपना यह दोष प्रगट करूंगा तो बाह्य में मेरी निन्दा होगी'—ऐसे भय से दोष प्रगट न करे, अथवा उसे अल्प करके कहे तो वह माया है। और अपने से होगये समस्त दोषों को सरलता पूर्वक

प्रगट कर देने का भाव भी शुभभाव है, उस शुभभाव का भी आदर नहीं है, इससे मुनि के व्यवहार से उत्तमआर्जव है। और वीतराग भाव से स्थिर रहकर दोष की उत्पत्ति ही न होने देना सो परमार्थ से उत्तमआर्जव है। जो शुभराग से धर्म मानता है ऐसा अज्ञानी जीव चाहे जैसी सरलता के परिणाम रखे, छोटे से छोटे दोष को भी प्रगट करके प्रायश्चित् ले तो भी उसके किंचित् आर्जवधर्म नहीं है, क्योंकि राग में धर्म माना वहां मूल मिथ्यात्वरूपी दोष है, उसका उसे भान नहीं है। जो दोष को ही गुण मान बैठा है उसके सरलता कैसी? उत्तम सरलता तो सम्यक्दर्शन पूर्वक ही होसकती है और वही धर्म है। जैसा मन में हो वैसा ही वचन से बोले—ऐसी सरलता रखे, किन्तु मान्यता ऐसी हो कि यह वचन बोलने की क्रिया मैं करता हूं, और इससे मुझे लाभ होता है तो वैसे जीव के यथार्थ सरलता नहीं है। उसने वक्रमान्यता करके अपने सम्पूर्ण चैतन्यस्वभाव को छिपाया है—वही परमार्थ से अनन्त कपट है।

जो श्रीगुरु आदि के उपकार को छिपाता है वह तो व्यवहार में भी सरल नहीं है, उसके उत्तम वीतरागी सरलता तो होती ही नहीं। जिसे व्यवहारसरलता प्रगटी हो वह जीव गुरु के पास ऐसी विनयपूर्वक प्रगट करता है कि—प्रभो! मैं मूढ़, पामर था, आजतक मुझे कुछ भी खबर नहीं थी, आपकी कृपा से ही मुझे अपूर्व सत्य प्राप्त हुआ। इसप्रकार सीधा-सरल होकर अर्पणता लाकर स्वभाव का बहुमान किये बिना तो व्यवहारसरलता भी नहीं होती, और उसका दोष दूर होकर वीतरागता प्रगट नहीं होती। प्रथम तो बराबर पहिचान करना चाहिये कि धर्म क्या है, और दोष क्या है? अपने परमार्थ स्वभाव को जानकर उसके आश्रय से स्थिर रहने में राग-द्वेषरूप माया की उत्पत्ति ही न हो—यह उत्तम आर्जव धर्म है। मुनिओं के वैसी अधिकांश स्थिरता होती है; किन्तु उनके जो

अल्पराग होता है उसे दूर करके वे सम्पूर्ण वीतरागी स्थिरता प्रगट करने का पुरुषार्थ करते हैं। और गृहस्थों को प्रथम तो ऐसी यथार्थ पहिचान करना चाहिये तथा दोषों को टालकर स्थिरता बढ़ाने की भावना करनी चाहिये। जो अपने आत्मा में ऐसी यथार्थ पहिचान करे और वीतरागभाव प्रगट करे उसने ही सच्चा दशलक्षण पर्व मनाया कहा जाता है।

इसप्रकार उत्तमआर्जव धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।



४—उत्तमसत्य धर्म

भाद्रपद शुक्ला—८

आज दशलक्षण पर्व का चौथा दिन है। उत्तमक्षमा, मार्दव, और आर्जव इन तीन धर्मों के स्वरूप का वर्णन होचुका है। आज उत्तमसत्य धर्म का दिन है। इन उत्तमक्षमादि धर्मों का आराधन सम्यक्‌दर्शनपूर्वक ही होसकता है। इन भादव सुदी ५ से १४ तक के दिनों को दशलक्षणपर्व कहते हैं और वही पर्यूषणपर्व है।

निर्ग्रंथ सन्त मुनिवरों के सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक उत्तमसत्य धर्म कैसे होता है उसका वर्णन श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव करते हैं:—

(आर्या)

स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च

वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥ ९१ ॥

उत्कृष्ट ज्ञान को धारण करनेवाले मुनिवरों को, प्रथम तो मौन ही रहना चाहिये। अर्थात् परमसत्य आत्मस्वभाव की एकाग्रता में रहकर बोलने का विकल्प ही न होने देना चाहिये। और यदि विकल्प उठे तो ऐसे वचन बोलना चाहिये कि जो सदैव स्व-पर को हितकारी हों, अमृतसमान मिष्ट और सत्य हों।

सम्यग्ज्ञान ही उत्कृष्ट ज्ञान है। ऐसे सम्यग्ज्ञान के धारक मुनिओं के ही उत्तमसत्य होता है। उत्तमसत्य सम्यक्‌चारित्र का एक प्रकार है। जिसके सम्यग्ज्ञान न हो और ऐसा मानता हो कि आत्मा पर का करे, पुण्य से धर्म हो, ईश्वर जगत का कर्ता है—

वह जीव यदि लोकव्यवहार में सत्य बोलता हो तो भी उसके उत्तमसत्य धर्म नहीं होता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन के बाद मुनिदशा की मुख्यरूप से बात है। उत्तमसम्यग्ज्ञान के धारक मुनिवरों को प्रथम तो मौन रहना ही श्रेष्ठ है, अर्थात् चैतन्यस्वरूप में वीतरागी स्थिरता प्रगट करके वाणी की ओर का विकल्प ही नहीं होने देना चाहिये। ऐसा वीतरागीभाव ही परमार्थ से उत्तमसत्य धर्म है। और अस्थिरता के कारण जब विकल्प उठे तब स्व और पर को हितकर, सत्य तथा प्रिय वचन बोलने का शुभराग सो व्यवहार से उत्तमसत्य धर्म है। उसमें जो राग हो वह धर्म नहीं है, किन्तु उससमय जितना वीतरागभाव है उतना धर्म है। वाणी बोली जाये या न बोली जाये वह तो जड़परमाणुओं की स्वतंत्र अवस्था है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। वाणी का कर्ता आत्मा है–जो ऐसा मानता है वह अज्ञानी है, उसके सत्यधर्म नहीं होता।

प्रश्नः—यदि वाणी का कर्ता आत्मा नहीं है तो 'मुनिओं को सत्यवचन बोलना' ऐसा यहाँ आचार्यदेव ने किसलिये कहा ?।

उत्तरः—सम्यग्ज्ञानपूर्वक सत्य बोलने का भाव हो उससमय यदि वाणी निकले तो वह सत्य ही होती है–ऐसा मेल बतलाने के लिये निमित्त से कहा जाता है कि 'मुनिओं को सत्य बोलना' उसमें ऐसा आशय है कि–मुनियों को आत्मस्वरूप में स्थिर रहकर वाणी की ओर का विकल्प ही न होने देना चाहिये, और यदि विकल्प हो तो असत्य वचन की ओर का अशुभराग तो नहीं ही होने देना। किन्तु 'आत्मा जड़ वाणी का कर्ता है'–ऐसा कहने का तात्पर्य नहीं है।

वाणी बोली जाये अथवा न बोली जाये-उसका कर्ता जीव नहीं है। ज्ञानी अपने को वाणी का कर्ता नहीं मानते, और सत्य बोलने का विकल्प हो उसके स्वामी भी ज्ञानी नहीं होते, वे वाणी और विकल्प रहित चिदानन्दस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानकर उसका

आदर करते हैं। इससे श्रद्धा और ज्ञान की अपेक्षा से तो चौथे गुणस्थान में धर्मात्मा के भी उत्तमसत्य इत्यादि धर्म होते हैं। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा ही सत्य जानना सो धर्म है। जैसी है वैसी ही सत्य वस्तु जाने बिना धर्म हो ही नहीं सकता। सम्यग्ज्ञान से वाणी–विकल्प रहित आत्मस्वरूप को जानने के पश्चात् उस स्वरूप में स्थिरता करना, उसमें उत्तमक्षमादि दसों धर्म समाविष्ट होजाते हैं। और सत्य बोलने का उपदेशादि का विकल्प उठे वह व्यवहार से उत्तम सत्य है। सत्य बोलने कै विकल्प को अथवा वाणी को ज्ञानी अपना स्वरूप नहीं मानते। मैं वीतरागभाव का कर्ता हूँ, इच्छा अथवा भाषा का मैं कर्ता नहीं हूँ और न वे मेरे कर्म हैं।

जो सत्य बोला जाता है, उन शब्दों का मैं कर्ता हूँ, जो जीव ऐसा माने वह बिल्कुल झूठ बोलता है, क्योंकि शरीर वाणी इत्यादि पदार्थ अपने नहीं हैं और न स्वत: उनका कर्ता है। तथापि मैं उन पदार्थों का कर्ता हूँ–ऐसा वह असत्य मानता है। और इसीप्रकार जगत के अनन्त परद्रव्यों को वह अपना मानता है। इससे उसके मिथ्यात्वरूप महान असत्य का सेवन है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि–मुनिओं को मौन रहना चाहिये। उसका यथार्थ अर्थ यह है कि–मुनिओं को वाणी की ओर का लक्ष्य छोड़कर आत्मा में एकाग्र रहना चाहिये। वाणी को रोकने की क्रिया आत्मा की नहीं है, किन्तु आत्मा जब बोलने के विकल्प को तोड़कर वीतरागभाव से आत्मा के अनुभव में लीन हो तब बाह्य में वाणी नहीं बोली जाती–ऐसा परमाणुओं का स्वतंत्र परिणमन होता है। 'मौन रहना' यह तो 'घी का घड़ा' कहने की भांति उपचारकथन है। वास्तव में भाषा करना या उसे रोकना चेतन के आधीन नहीं है। धर्मोपदेश करूँ, स्वाध्याय करूँ, इसप्रकार का शुभविकल्प मुनि को हो और परमसत्य उपदेश भी निकले, किन्तु

उससमय सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छेदकर जितना वीत-रागभाव है वही धर्म है, जो शुभराग है उसे मुनि धर्म नहीं मानते, और वे उसका आदर भी नहीं करते इससे उनके उत्तम-सत्य धर्म है। किन्तु यदि राग को आदरणीय माने तो वहाँ तो सम्यक्दर्शन भी नहीं होता, उत्तमसत्य धर्म तो सम्यक्चारित्र का भेद है, वह तो होता ही कहाँ से ?

मेरे शुभराग से या वाणी से मुझे या अन्य को लाभ हो, अथवा मैं निमित्त बनकर दूसरे को समझा दूँ—ऐसा जिसका अभि-प्राय है वह जीव महा असत्य अभिप्राय का सेवन करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। शुभराग या व्यवहार महाव्रत का पालन करते-करते धर्म होता है—ऐसा उपदेश अथवा निमित्त से दूसरे का कार्य हो, पुण्य से धर्म हो—इसप्रकार का उपदेश दे वह जीव असत्य वक्ता है और मिथ्यादृष्टि है। ऐसे जीवों की बात नहीं है। यहाँपर तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्रदशा प्रगट करके जो मुनि हुए हैं और केवलज्ञान प्रगट करने की योग्यतावाले हैं—ऐसे मुनि-वरों को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो मुनिवरों ! तुम्हें स्वरूपस्थिरता में लीन रहकर सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट करना ही योग्य है। मुनिओं को किसीप्रकार का शुभराग करना भी योग्य नहीं है। सत्यवाणी की ओर की आकांक्षा को नष्ट करके परमसत्य आत्मस्वभाव में स्थिर रहकर केवलज्ञान प्रगट करना योग्य है।

श्री आचार्यदेव उत्तमसत्य धर्म की महिमा बतलाते हैं:—

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते,
भवत्याराधिता सिद्धिः जगत्पूज्या च भारती ॥ ९२ ॥

जो जीव सत्यवचन बोलनेवाला है उसके समस्त व्रत विद्यमान रहते हैं, अर्थात् सत्यव्रत का पालन करने से समस्त व्रतों का पालन

होता है और वह सत्यवादी पुरुष जगतपूज्य सरस्वती को भी सिद्ध कर लेता है।

शास्त्रों में ऐसी कथनशैली होती है कि—जब जिसका वर्णन होता है उसे मुख्य करते हैं और दूसरे को गौण रखते हैं। यहाँ सत्यव्रत का वर्णन करना है इससे उसे मुख्य कर के कहा है कि—एक सत्यव्रत के पालन में समस्त व्रतों का समावेश होजाता है। जब ब्रह्मचर्य का वर्णन करना हो तब ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मचर्यव्रत में समस्त व्रत समा जाते हैं, वैसे ही जब अहिंसा का वर्णन होरहा हो तब ऐसा कहते हैं कि अहिंसा के पालन में ही सम्पूर्ण व्रत आजाते हैं। अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य आदि भेद व्यवहारधर्म की अपेक्षा से हैं। परमार्थ से तो मात्र वीतराग भाव में ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्म आजाते हैं।

सत्य-असत्य वचन की ओर का शुभ या अशुभ विकल्प सो आत्मा का स्वरूप नहीं है। सत्य-असत्य वचन, वैसे ही उस ओर का शुभ-अशुभ राग, उन दोनों से भिन्न रहकर आत्मा उनका ज्ञाता है। ऐसे आत्मस्वभाव के आश्रय के बिना यथार्थ सत्यव्रत नहीं होसकता। शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा के पश्चात् चारित्रदशा में आगे बढ़ने पर जो सत्य व्रतादि के विकल्प आते हैं उन्हें उपचार से—व्यवहार से, निमित्त से उत्तमसत्य धर्म कहते हैं। परमार्थ से तो सत्यवचन की ओर का भी राग छोड़कर जो वीतरागभाव हुआ वही उत्तमसत्य धर्म है। वह वीतरागभाव ही उत्तम अहिंसा है, वही ब्रह्मचर्यादि है और वही वीतरागभाव मोक्षमार्ग है। ऐसा वीतरागभाव मुनिवरों के होता है। जो शुभराग होता है वह भी वास्तव में असत्य है, हिंसा है। सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभावरूप उत्तमसत्य धर्म में अन्य समस्त धर्म आजाते हैं। जो ऐसे उत्तमसत्य व्रत का पालन करते हैं वे जगत्पूज्य सरस्वती को प्राप्त करते हैं अर्थात् वे केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं और

दिव्यध्वनि छूटती है। सरस्वती अर्थात् केवलज्ञान, और निमित्तरूप से कहा जाये तो दिव्यध्वनि सरस्वती है। भगवान की दिव्यध्वनि को सरस्वती, अम्बा इत्यादि भी कहते हैं।

लौकिकसत्य बोलने के भाव तो जीव ने अनन्तबार किये हैं, किन्तु परमार्थसत्य का स्वरूप नहीं समझा। सच्चे ज्ञान से वस्तु-स्वरूप का निश्चय किये बिना परमार्थ सत्य नहीं होता। अज्ञानी जो कुछ बोलता है वह लौकिक सत्य भले हो किन्तु परमार्थ से तो वह असत्य ही है। परमार्थ सत्य तो सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होसकता है। आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को जानकर उसमें विशेष स्थिरता के पुरुषार्थ द्वारा असत्य को (शुभ-अशुभराग को) टाले वही उत्तमसत्य धर्म है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थों के भी श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से उत्तमसत्यादि धर्म होते हैं।

आचार्यदेव उत्तमसत्य धर्म का विशेष माहात्म्य करते हैं:-

(शार्दूलविक्रीड़ित)

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते
सद्भूपत्वसुरत्व संसृतिसरित्पाराप्तिमुख्यं फलम् ।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतं
यत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते ॥९३॥

उपरोक्तानुसार उत्तमसत्य धर्म के स्वरूप को जानकर जो सत्यवादी मनुष्य हैं वे परभव में श्रेष्ठ चक्रवर्ति तथा इन्द्रादि पद प्राप्त करते हैं, और संसार-सरिता के पार को प्राप्त होते हैं यह उसका मुख्य फल है, परभव की बात तो दूर रही, किन्तु वे इसी भव में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल यश पाते हैं, वे सज्जन कहलाते हैं और सज्जन उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। ऐसे उत्तम-सत्य धर्म के फल का वर्णन किसप्रकार किया जाये ? इसलिये मुमुक्षुओं को सम्यग्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक उत्तमसत्य धर्म का पालन करना चाहिये।

आत्मा का स्वभाव वीतराग ज्ञानमय है, वह पर की उपेक्षा करनेवाला है। पर की उपेक्षा किये बिना वीतरागभाव प्रगट नहीं होता और वीतरागभाव के बिना उत्तम सत्यादि धर्म नहीं होते। 'मैं पर का कर सकता हूँ, अथवा निमित्त हो तो कार्य होता है'—ऐसी जिनकी मान्यता है वे जीव परपदार्थों की उपेक्षा करके स्वभावोन्मुख नहीं होसकेंगे। पर से भिन्न अपने स्वभाव को जानकर जो जीव परमसत्यका (आत्मस्वभाव का) आराधन करते हैं वे जीव वीतरागभाव के फल में मुक्ति पाते हैं और साधकदशा में जो राग रह जाता है उसके फलस्वरूप इन्द्रादि पदवी प्राप्त होती है। अज्ञानी चाहे जैसे सत्य का शुभराग करे फिर भी उसे इन्द्र, चक्रवर्ति आदि लोकोत्तर पदवी प्राप्त नहीं होती। ज्ञानियों को साधकदशा में जो राग वर्त रहा है उसका निषेध है, इससे उनके इन्द्रादि पद के योग्य उच्चपुण्य बँध जाता है। और इस लोक में भी ऐसे सम्यग्ज्ञानी—सत्यवादी को सज्जन पुरुष आदर की दृष्टि से देखते हैं, और उनकी उज्ज्वलकीर्ति सर्वत्र फैलती है। आचार्यदेव कहते हैं कि यह समस्त फल तो गौण हैं। उत्तमसत्य धर्म का मुख्यफल तो मोक्षपद की प्राप्ति है। इसलिये सज्जनों को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिये अर्थात् प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र सत् है—ऐसा समझकर वस्तुस्वभाव की सम्यग्श्रद्धा और ज्ञान प्रगट करना चाहिये, और इस सम्यग्श्रद्धा—ज्ञानपूर्वक उत्तमक्षमादि भावरूप वीतराग धर्म का आराधन करना चाहिये।

इसप्रकार उत्तमसत्य धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।



५–उत्तमशौच धर्म

भाद्रपद शुक्ला–९

आज दशलक्षण पर्व का पाँचवां दिन है, यह उत्तमशौच धर्म का दिन कहा जाता है। उत्तमशौच अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित पवित्रता अथवा निर्लोभता। यह दसों धर्म मुख्यतः मुनिदशा में होते हैं, गृहस्थों के गौणरूप से होते हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्य पद्मनन्दिपंचविंशतिका शास्त्र में शौचधर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिंसकं चेतः ।
दुर्भेद्यान्तमल हृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ।। ९४ ।।

जो परस्त्री और पर पदार्थों के प्रति निःस्पृह है, सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसक है और दुर्भेद्य जो अन्तर का मैल है उसे जिसने धो डाला है, ऐसा पवित्र हृदय ही उत्तमशौच धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई शौचधर्म नहीं है।

शौच अर्थात् पवित्रता। जिन्हें पवित्र आत्मा का भान नहीं है और जो देह को ही अपना मान रहे हैं–ऐसे अज्ञानी जीव शरीर को पवित्र रखने को ही शौचधर्म मानते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि यह शौचधर्म नहीं है। शरीर को अपना मानना तो महान अशुचि है। जिस आत्मा ने भेदज्ञानरूपी जल से उस मिथ्यामान्यतारूपी अशुचि को धो डाला है वही आत्मा शौच-धर्म है।

जिसे पवित्र चैतन्यस्वरूप का भान न हो और पुण्य–पाप को ही अपना कर्तव्य माने, मैं पर का कर्ता हूँ ऐसा माने, वह जीव परपदार्थों से निस्पृह नहीं होसकता, जिसे पुण्य–पापरूप विकार भावों की पकड़ है उसका ज्ञान विकार से मलिन है। जो ऐसा मानता है कि पर का मैं करता हूँ, उसका ज्ञान मिथ्यात्वरूपी मैल से मलिन है। मुझे पर की सहायता है, निमित्त के आश्रय से धर्म होता है–ऐसी जिसकी मान्यता है वह जीव परपदार्थों में आसक्त है। जो जीव पर में आसक्त है वह महान अशुचि से लिप्त है। जिसने पुण्य में और उसके फल में सुख माना है वह जीव वास्तव में स्त्रियों के प्रति निस्पृह नहीं है। जो पुण्य में आसक्त है उसे उसके फल में भी आसक्ति है, वह जीव स्त्री आदि पदार्थों के प्रति निस्पृह नहीं है और उसके शौचधर्म नहीं होता।

स्नानादि से शरीर को स्वच्छ रखे तो वह कहीं शौचधर्म नहीं है। शरीर की शुद्धि से आत्मा का धर्म मानना सो मिथ्यात्व है। और पुण्य–पाप के भावों से आत्मा की पवित्रता हो, ऐसा माने उसे किंचित् धर्म नहीं होता; किन्तु उलटी मिथ्यात्वरूपी मैल की पुष्टि होती है। शरीर से भिन्न और पुण्य-पाप से रहित ऐसे पवित्र आत्मस्वरूप की यथार्थ प्रतीतिरूपी जल द्वारा मिथ्यात्वरूपी मैल को धो डालना और पवित्र आत्मस्वरूप में एकाग्रता द्वारा रागादि मैल का धो डालना, वही उत्तमशौच धर्म है। ऐसा धर्म मुनिओं के होता है। जितना रागादि का विकल्प हो वह तो अशुचि है। मुनिवरों की परिणति स्त्री, लक्ष्मी आदि से बिलकुल निस्पृह है, शुभ और अशुभ दोनों भावों को एक-सा मानते हैं, दोनों भाव अशुचिरूप हैं, आत्मस्वभाव से विपरीत अशुद्धभाव हैं। मुनिओं के सहज ज्ञान की एकाग्रता से वे रागादि अशुद्धभाव होते ही नहीं हैं। रागादि रहित वीतरागभाव सो उत्तमशौच धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तमशौच धर्म नहीं है।

सज्जन पुरुषों के परस्त्री सेवन का भाव होता ही नहीं। किन्तु वास्तव में तो शुभभाव भी परस्त्री है। शुभभाव से आत्मा को लाभ मानकर शुभपरिणति का संग करना, वह परस्त्रीगमन है। धर्मी जीव उस अशुभ परिणाम को अपना स्वरूप नहीं मानते, और उसमें एकता नहीं करते। इससे श्रद्धा–ज्ञान की अपेक्षा से उनके भी शौचधर्म है। आत्मा में जो परभावों का ग्रहण करता है वह परमार्थ से पराये धन का ग्रहण है। जिसे परभावों में ग्रहणबुद्धि है वह जीव उसके फलरूप लक्ष्मी आदि बाह्य संयोगों को भी अपना माने बिना नहीं रहेगा। मुनिजन ज्ञानानन्द स्वभाव के अनुभव की जागृतिद्वारा परभावों की उत्पत्ति नहीं होने देते, इससे वे समस्त परपदार्थों और परभावों से निस्पृह हैं; परभावों से रहित उनकी जो पवित्र वीतरागी परिणति है वही उत्तमशौच धर्म है। बाह्य में स्नानादि करना वह शौच नहीं है और पुण्य परिणामों में भी आत्मा की शुचिता नहीं है। जिसे भेदना दुर्लभ है ऐसी पुण्य-पाप भावोंरूप मलिनता को आत्मा की पवित्रता के बल से जिसने भेद डाला है उसके उत्तमशौच धर्म है।

स्नानादि से शुद्धता नहीं होसकती–इस बात को आचार्यदेव स्पष्ट करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

गंगा सागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि
स्नातस्यापि न जायते तनभृतः प्रायो विशुद्धिः परा।
मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो बाह्येऽतिशुद्धोदकै-
र्धौतं किं बहुशोऽपि शुद्धति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ॥९५॥

गंगा नदी, समुद्र या पुष्करादि समस्त तीर्थों में सदैव स्नान कराने से भी शरीर की मलिनता दूर नहीं होती, शरीर कभी पवित्र होता ही नहीं। स्वभाव से ही शरीर अशुचिरूप है। जिस-

प्रकार मदिरा से भरे हुए घड़े को अतिस्वच्छ जल से अनेकबार धोया जाये तो भी वह स्वच्छ नहीं होता, उसीप्रकार जिसका चित्त मिथ्यात्वादि मलिन भावों से भरा हुआ है वह जीव बाह्य में शरीर को निर्मलजल से चाहे जितनीबार धोए किन्तु उसे पवित्रता नहीं होती। जो पुण्य से आत्मा को लाभ मानता है वह जीव अपने आत्मा में विकार का ही लेपन करके आत्मा की मलिनता में वृद्धि करता है। पुण्यभावों से आत्मा की शुद्धि नहीं होती। पुण्य-पाप रहित और शरीर से भिन्न, पवित्र आत्मस्वरूप की प्रतीति से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करना सो ही पवित्रता है, और वही शौचधर्म है। स्नानादि में जो धर्म मानते हैं वे अपने आत्मा को मिथ्यात्व-मल से मैला करते हैं। जिसके अंतरंग में मिथ्यात्व भरा हुआ है उस जीव के कभी भी पवित्रता नहीं होसकती। इसलिये शरीर और पुण्य-पाप के भाव-इन सबको अशुचिरूप जानकर उनसे भिन्न परमपवित्र चैतन्यस्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान-रमणता द्वारा पवित्रभाव प्रगट करना ही उत्तम दसधर्मों की सच्ची उपासना है।

इसप्रकार उत्तमशौच धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।



६–उत्तमसंयम धर्म

भाद्रपद शुक्ला–१०

दशलक्षण पर्व में छठवाँ दिन उत्तमसंयम धर्म का है। आत्मस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञानपूर्वक शुभाशुभ इच्छाओं को रोककर आत्मा में एकाग्र होना सो परमार्थ उत्तमसंयम धर्म है। और जब ऐसा वीतरागभाव न होसके तब, सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक अशुभराग को छोड़कर छहकाय के जीवों की रक्षा का शुभराग होता है उसे व्यवहारसंयम कहते हैं। श्री आचार्यदेव संयमधर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

जन्तु कृपार्दितमनस समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य
प्राणेन्द्रियपरिहारः संयममाहुर्महामुनयः ॥ ९६ ॥

जिनका चित्त दयार्द्र है और जो समिति में प्रवर्तमान हैं, तथा इन्द्रियविषयों का त्याग है ऐसे मुनियों के संयम धर्म है, इसप्रकार महामुनि कहते हैं। जिनके आत्मभानपूर्वक वीतरागभावरूप अकषायी करुणा प्रगट हुई है उन्हें किसी प्राणी को दुःख देने का विकल्प ही नहीं होता, इससे ऐसा कहा जाता है कि उनका चित्त दयार्द्र है। रागभाव सो हिंसा है, क्योंकि उसमें अपने आत्मा के चैतन्य प्राणों का घात होता है, इससे उसमें स्वजीव की दया नहीं है। वीतरागभाव ही सच्ची दया है, क्योंकि उसमें स्व या पर किसी जीव की हिंसा का भाव नहीं है। ऐसी वीत-

रागी दया से जिनका चित्त भरा है उन मुनिवरों के उत्तमसंयम धर्म है। और सम्पूर्ण वीतरागभाव न हो तथा राग की वृत्ति उठे उससमय पंचसमिति में प्रवर्तनरूप शुभभाव होता है उसे भी संयमधर्म कहते हैं। परमार्थ से तो वीतरागभाव ही धर्म है, राग है वह धर्म नहीं है। इन्द्रियविषयों का अथवा जीवहिंसा का विकल्प तो मुनि के होता ही नहीं, किन्तु देखकर चलना आदि प्रकार के शुभविकल्प आयें उन्हें भी तोड़कर स्वभाव की ओर उन्मुख होने का प्रयत्न वर्तता है; जितने अंश में विकल्प का अभाव किया उतने ही अंश में वीतरागी संयमधर्म है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी 'अपूर्व अवसर' में कहते हैं कि:—

"संयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण-क्षण घटती जती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो।"

इसमें उन्होंने ऐसी भावना की है कि—जबतक वीतरागभाव से स्वरूप में स्थिर न होसके तबतक, स्वरूप के लक्ष्य से और जिन-आज्ञा के अनुसार संयम के हेतु से योग का प्रवर्तन हो। यहाँपर जिनआज्ञा की ओर का लक्ष्य है वह भी शुभभाव है। उसकी भावना नहीं है, किन्तु पर की ओर का वह विकल्प भी क्षण-क्षण में घटता जाये और क्रमशः उसका अभाव होकर सम्पूर्ण वीतरागभाव से आत्मस्वरूप में लीनता प्रगट होकर केवलज्ञान हो—वैसी भावना है। ऐसे वीतरागभाव की पहले पहिचान करना चाहिये। वीतरागभाव ही उत्तम धर्म है।

अब आचार्यदेव संयम की दुर्लभता बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादय—
स्तेष्वेवाप्तवचःश्रुतिःस्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।
प्राप्ते ते अपि निर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः। ९७ ॥

इस संसाररूपी गहन वन में भ्रमण करते हुए जीव को मनुष्यत्व महादुर्लभ है। मनुष्यत्व में भी उत्तम जाति इत्यादि मिलना कठिन है। यदि उत्तम जाति मिले तो भी श्री अरिहंत भगवानादि आप्त पुरुषों के वचन सुनने का सुयोग प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। यहाँ आचार्यदेव देशनालब्धि का नियम रखते हैं। जिस जीव को ज्ञानीपुरुष के पास से शुद्ध आत्मतत्व के उपदेश की प्राप्ति नहीं हुई वह जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। इससे कहीं जीव की पराधीनता नहीं होती है। जिस जीव के शुद्धात्मस्वभाव को समझने की योग्यता हो उस जीव को ज्ञानी से शुद्धात्मा का उपदेश मिलता ही है। ज्ञानी पुरुष के उपदेश को रुचि, बहुमान और विनयपूर्वक सुने बिना, मात्र शास्त्र बांचकर अथवा अज्ञानी क उपदेश सुनकर कभी भी कोई जीव धर्म प्राप्त नहीं कर सकता। जो जीव धर्म प्राप्त करता है उसे या तो वर्तमान साक्षात् ज्ञानी की वाणी का योग होता है और कदाचित् वैसा योग न हो तो पूर्व में जो ज्ञानी का समागम किया हो उसके संस्कार वर्तमान में स्मरण होते हैं। जीव को ज्ञानी का उपदेश तो अनन्तबार मिला है, किन्तु जिज्ञासापूर्वक सत् का श्रवण कभी भी नहीं किया; इससे परमार्थतः उसने सत् का श्रवण कभी भी किया ही नहीं। जिज्ञासापूर्वक सन्तपुरुषों की वाणी का श्रवण महादुर्लभ है। इतना होनेतक भी धर्म नहीं है, इतना होनेपर तो व्यवहारशुद्धि हुई कहलाती है अर्थात् उसमें धर्मी होने के लिये पात्रता प्रगट हुई कहलाती है। जिसमें इतना न हो वह जीव तो धर्म प्राप्त कर ही

नहीं सकता । जो कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र को मानते हैं वे तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं । सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप जाने और कुदेवादि की मान्यता को छोड़ दे तब गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है ।

जिसे ज्ञानी के पास से सच्चे धर्म का श्रवण महाभाग्य से प्राप्त हुआ है उसे उसमें दृढ़ स्थिति होना दुर्लभ है । ज्ञान में यथार्थ निर्णय करना सो महादुर्लभ है । यदि सत् का श्रवण करे किन्तु निर्णय न करे तो यथार्थ फल नहीं मिलता । यहाँतक आने के पश्चात् अब अपूर्व आत्मधर्म कैसे हो उसकी बात करते हैं ।

अनन्तकाल में दुर्लभ मनुष्यत्व प्राप्त करके, सत्धर्म का श्रवण प्राप्त करके और ज्ञान में उसका निर्णय करके, शुद्धात्मा का अनुभव करना अपूर्व है । जो पहले अनन्तकाल में कभी न किया हो ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट करना सो महान् पुरुषार्थ है । यहाँ से अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है । जिसने एकसमय मात्र भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति की है वह जीव अल्पकाल में अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करता है । ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति परम पुरुषार्थ द्वारा करने के पश्चात् भी वीतरागी संयम की प्राप्ति सबसे दुर्लभ है ।

यहाँपर आचार्यदेव उत्कृष्ट बात बतलाना चाहते हैं । मोक्ष का सीधा कारण वीतरागी चारित्र है । सम्यग्दर्शन ज्ञान होनेपर भी जहाँतक वीतरागी संयमदशा प्रगट न करे वहाँतक केवलज्ञान नहीं होता । इसलिये वीतरागी संयम धर्म परम प्रशंसनीय है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान को गौणरूप से मोक्षमार्ग कहा जाता है, साक्षात् मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र दशा में है । प्रवचनसार की सातवीं गाथा में कहा है कि—'चारित्तं खलु धम्मो' अर्थात् सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र सो धर्म है । चारित्रदशा के बिना उस भव में मोक्ष होता ही नहीं । आचार्यदेव के चारित्रदशा विद्यमान है, अधिकांश वीतरागभाव प्रगट हुआ है, किन्तु वे ऐसे चारित्र की भावना करते

है कि उत्कृष्ट वीतरागी संयम प्रगट होकर उसी भव में केवलज्ञान प्रगट होजाये। इसकाल में साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति करादे ऐसे उत्कृष्ट चारित्र का पुरुषार्थ नहीं है। श्रद्धा की अपेक्षा से तो चौथे-गुणस्थान से ही वीतरागभाव है; ऐसी सम्यक्श्रद्धापूर्वक वीतरागभाव प्रगट करना सो वह अत्यंत प्रशंसनीय है। भावसंयम के बिना उच्च स्वर्गपद अथवा मोक्षपद की प्राप्ति नहीं होती। यदि वीतरागी संयम-दशा प्रगट न कर सके तो उसकी प्रतीतिपूर्वक, निर्मल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को स्थिर रखना चाहिये। सम्यग्दर्शन-ज्ञान भी धर्म—आराधना है, और गृहस्थ भी वह कर सकते हैं।

"जो चारित्र है सो धर्म है" ऐसा कहा है। वह कौनसा चारित्र ? लोग घरबार छोड़कर, कपड़े बदलकर निकल जाते हैं, वह कहीं चारित्र नहीं है, किसीप्रकार का वेष धारण करना अथवा कपड़े बिल्कुल निकाल देना उसमें कोई चारित्र नहीं है। शुभराग भी चारित्र नहीं है; किन्तु शरीर और विकार से भिन्न स्वभाव का अनुभव करके उस स्वभाव में विचरना वह चारित्र है। ऐसा चारित्र सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होता है, और वही मुक्ति का कारण है।

जिसे ज्ञानी पुरुषों द्वारा सत्धर्म का श्रवण ही नहीं मिला उसके यथार्थ संयम नहीं होता। जिसने सच्चे देव—गुरु की पहिचान से गृहीत मिथ्यात्व का भी त्याग नहीं किया—ऐसा जीव, यदि बाह्य में त्यागी-दिगम्बर भी होजाये तब भी उसे द्रव्यलिंगी भी नहीं कहा जाता, क्योंकि द्रव्यलिंग तो उससमय कहा जाता है, जबकि गृहीत मिथ्यात्व को टाले और व्यवहार पंचमहाव्रत का यथार्थ रीति से पालन करे। यह द्रव्यलिंग भी धर्म नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीवों को साधुरूप से मानने में तो गृहीत मिथ्यात्व ही है, सच्चा गुरु कैसा होता है इसका भी उसे विवेक नहीं है। निमित्तरूप से भी जिसने कुगुरु-अज्ञानी को स्वीकार किया है, वह जीव स्वतः अज्ञानी-गृहीत मिथ्यात्वी है। ऐसा जीव, चाहे जैसे शुभभाव करे तो भी

वह आठवें स्वर्ग के ऊपर जासके वैसे शुभभाव ही उसके नहीं होते। क्योंकि जिसने निमित्तरूप से ही कषाययुक्त देव-गुरु-शास्त्र को स्वीकार किया है उसे अपने भावों में उतनी कषाय की मन्दता करने की शक्ति ही नहीं है कि वह आठवें स्वर्गलोक से ऊपर जासके। जिसने गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके निर्दोष, अकषायी देव-गुरु-शास्त्र को माना है उस जीव के उतनी कषाय की मन्दता हो सकती है कि वह नवमें ग्रैवेयक तक जासकता है। जिसने यथार्थ निमित्तों को नहीं जाना उस जीव के व्यवहार-सम्यग्दर्शन भी नहीं होता, उसीप्रकार व्यवहारचारित्र भी नहीं होता। ऐसा गृहीत मिथ्या-दृष्टि जीव यदि नग्न-दिगम्बर होजाये तब भी उसके द्रव्यलिंग भी यथार्थ नहीं है। तो फिर इसके संयम धर्म कैसा ? यह तो मिथ्या-दृष्टि है। धर्म में सामान्यरूप से जीव का माप करने की एक यह रीति है कि:-जिसे धर्मी जीव का साक्षात् उपदेश न मिला हो (अथवा पूर्वभव के धर्मश्रवण के संस्कार भी जागृत न हुए हों) उस जीव के धर्म नहीं होता। यदि कोई जीव ऐसा माने कि मुझे धर्म प्राप्त हुआ है। तो यह निश्चित् करना चाहिये कि तू किस ज्ञानी-धर्मात्मा के पास से धर्म को समझा है ? तुझे किस ज्ञानी का समागम हुआ है ? क्या तू अपने आप स्वच्छंदता से धर्म समझा है ? स्वच्छं-दता से धर्म नहीं समझा जा सकता। वैसे ही अज्ञानी जीव के पास से भी धर्म नहीं समझा जा सकता। अपनेआप शास्त्र बांचने से भी धर्म नहीं समझा जासकता। धर्मी जीव के पास से ही धर्म समझा जासकता है। जो जीव अपने में धर्म समझने की पात्रता प्रगट करता है, उस जीव के धर्मी का उपदेश ही निमित्तरूप होता है—ऐसा नियम है। यद्यपि निमित्त कुछ करता नहीं है, किन्तु धर्म प्राप्त करने में धर्मी जीव का ही निमित्त होता है, अधर्मों का निमित्त नहीं होता—ऐसा मेल है। इसलिये मुमुक्षु जीवों को सत्-असत् निमित्तों की पहिचान करना चाहिये। पहले सत्समागम द्वारा आत्मा की पहिचान करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट करे, उसके पश्चात् ही वीतरागभावरूप उत्तमसंयम धर्म होता है। उत्तमक्षमादि दस

धर्मों के यथार्थ स्वरूप को पहिचानना चाहिये, उनके मूलस्वरूप को जाने बिना मात्र रूढ़िप्रमाण से बोलने अथवा बांचने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता। दशलक्षण धर्म का स्वरूप जाने बिना उस धर्म का उद्यापन किस प्रकार करेगा ? दशलक्षण धर्म का स्वरूप जैसा है उसे वैसा ही जानकर जितने अंश में वैसा वीत-रागभाव अपने आत्मा में प्रगट करे उतने अंश में वास्तविक दश-लक्षण पर्व का अपने आत्मा में उद्यापन किया है। जो धर्म के मूलस्वरूप को नहीं जानता और मात्र राग को ही धर्म मानता है उसने वास्तविक धर्म के पर्व का उद्यापन नहीं किया, किन्तु मिथ्यात्व का ही पोषण किया है। इसलिये धर्म के यथार्थ स्वरूप को सत्समागम द्वारा जानकर ऐसी मिथ्या–मान्यताओं को छोड़ना चाहिये।

यहां उत्तमसंयम धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।



७—उत्तमतप धर्म

भाद्रपद शुक्ला—११

आज उत्तमतप धर्म का दिन है। भादवा सुदी पंचमी के दिन 'उत्तमक्षमा धर्म' कहा जाता है और एकादशी के दिन 'उत्तमतप धर्म' कहलाता है, किन्तु उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि पंचमी के दिन उत्तमक्षमा के अतिरिक्त दूसरे धर्म होते ही नहीं हैं, और एकादशी के दिन मात्र तपधर्म ही होता है। वास्तव में तो आत्मा के वीतरागभाव में उत्तमक्षमादि दसों धर्म एक ही साथ हैं, पहले दिन पहला धर्म और दूसरे दिन दूसरा धर्म—ऐसा नहीं है। परन्तु एक ही साथ दसों धर्मों का व्याख्यान न हो सकने के कारण क्रमशः एक—एक धर्म का व्याख्यान करने की पद्धति है। पंचमी—छठ इत्यादि दिन तो काल की अवस्था है—जड़ है, उसमें कहीं उत्तमक्षमादि धर्म नहीं भरे हैं। सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के वीतरागभाव में उत्तमक्षमादि धर्म विद्यमान हैं, जिसे आत्मा की यथार्थ प्रतीति नहीं है उसके उत्तमक्षमादि एक भी धर्म नहीं होता। उत्तमक्षमादि धर्म सम्यक्चारित्र के भेद हैं। मुख्यतः यह धर्म मुनिदशा में होते हैं।

श्री पद्मनन्दि आचार्य उत्तमतप धर्म का वर्णन करते हैं:—

(आर्या)

कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्।
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥ ९८ ॥

सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान सहित जो उत्तमतप है वह संसारसमुद्र से पार होने के लिये जहाज के समान है। सम्यग्ज्ञान रूपी दृष्टि से वस्तुस्वरूप को जानकर उसमें लीन होनेपर इच्छाएं रुक जाती हैं–वह तप धर्म है; उससे कर्ममल का नाश होता है। जिस भाव से शुभ अथवा अशुभ कर्मों का बन्ध होता है वह वास्तव में तप नहीं है किन्तु जिस भाव से ज्ञान–दर्शन की शुद्धि प्रगट हो और कर्म का नाश हो वह तप है, यह तप आत्मा का वीतरागी चारित्र है। निश्चय से तो वीतरागभावरूप एक ही प्रकार का तप है। ऐसे निश्चयतप की पहिचानपूर्वक जहाँ पूर्ण वीतरागभाव न हो वहाँ शुभरागरूप व्यवहार तप होता है। उस व्यवहार तप के सामान्यरूप से दो प्रकार हैं। एक बाह्यतप और दूसरा अभ्यंतरतप। तथा विशेषरूप से–(१) अनशन, (२) अवमोदर्य (३) वृत्तिपरिसंख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्तशय्यासन (६) कायक्लेश (७) प्रायश्चित (८) विनय (९) वैयावृत्य (१०) व्युत्सर्ग (११) स्वाध्याय और (१२) ध्यान–यह बारह भेद हैं। उसमें प्रथम छहप्रकार बाह्यतप के भेद हैं और अन्तिम छहप्रकार अभ्यंतर तप के भेद हैं। यह ध्यान रहे कि–यह समस्त प्रकार के तप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् ही होते हैं। सम्यग्दर्शन बिना कायक्लेश, अनशन अथवा स्वाध्याय आदि करे उसे निश्चय से या व्यवहार से किसी भी प्रकार तप नहीं कहा जासकता। उत्तमतप सम्यग्चारित्र का भेद है, सम्यग्चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होता। पुण्य या पापरूप कोई भी इच्छा आत्मस्वभाव में नहीं है। इच्छारहित निर्मल चैतन्यस्वरूप को जानकर उसके अनाकुल आनन्द के अनुभव में लीन होनेपर वीतरागीभाव से आत्मा शोभित होजाता है, इसका नाम तप है। ऐसा तप मुक्ति का कारण है।

श्री आचार्यदेव तप की महिमा बतलाते हैं:—

(पृथ्वी)

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठा-
तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः ।
अतोहि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥९९॥

आचार्यदेव कहते हैं कि इन विषय-कषायरूपी उद्धत चोरों का समूह दुर्जय है, तो भी तपरूपी योद्धा के पास उसका कुछ भी वश (जोर) नहीं चलता । यदि मुनिवर वीतरागभाव द्वारा स्वरूप में स्थिर हों तो विषय-कषायरूपी चोरों का सहज ही नाश होजाता है । यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूपी रत्नों को साथ लेकर मोक्षमार्ग में चलनेवाले मुनियों के तपरूपी रक्षक साथ में न हो तो विषय-कषायरूपी चोर उनकी लक्ष्मी को लूट लेते हैं । यदि अल्पराग भी रह जाये तो उससे रत्नत्रय सम्पत्ति लुटती है और मोक्ष भी प्राप्त नहीं होता । सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने के पश्चात् भी विषय-कषायों को जीतना दुर्लभ है, किन्तु मुनिवर परद्रव्यों से पराङ्मुख होकर जब स्वरूप में स्थिर होते हैं उससमय वे विषय-कषाय क्षणमात्र में नष्ट होजाते हैं । इसलिये मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले मुनिओं से भगवान कहते हैं कि हे मुनिओं ! विषय-कषायरूपी चोरों से अपनी रत्नत्रयरूपी लक्ष्मी को बचाने के लिये सम्यक्तपरूपी योद्धा को सदा साथ रखना । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी धर्मलक्ष्मी को साथ लेकर मोक्ष की ओर गमन करते हुए स्वभाव की स्थिरता के पुरुषार्थ को साथ रखने से, बीच में कोई विघ्न करने के लिये समर्थ नहीं है ।

अब आचार्यदेव तप के लिये प्रेरणा करते हैं:—

(मन्दाक्रान्ता)

मिथ्यात्वादेर्दिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्यो
जातं तस्मादुदकणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात् ।
स्तोकं तेन प्रसभमखिलकृच्छ्रलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलसि तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥१००॥

यदि कोई जीव उत्तम तपधर्म में निरुत्साही होता हो और खेद से दुःखी होता हो और उससे तप को ही दुःखरूप मानकर उसे छोड़ रहा हो, तो उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! जैसे समुद्र के पानी के पास पानी के बिन्दुओं की गिनती नहीं है, वैसे ही सम्यक् तप के अनादर से मिथ्यात्व को लेकर जो अनन्त दुःख होगा उसकी अपेक्षा में तप के दुःख की कोई गिनती नहीं है। तप चारित्रधर्म है, और वह परम आनन्द का कारण है, वह किंचित् भी दुःख का कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ जो राग रहजाता है उसका अल्पदुःख है-ऐसा जानना चाहिये। यहां तो जिसे चारित्रदशा में अल्प दुःख होता है और निरुत्साही बन जाता है-उसे समझाने के लिये कहते हैं कि हे जीव ! इस तप में तो तुझे बहुत ही अल्प दुःख है, और मिथ्यात्व-अव्रत आदि के सेवन से नरक में जायेगा वहां तो अनन्त दुःख है, तथा अनन्ती प्रतिकूलता है। उसके समक्ष तो तेरे तप की प्रतिकूलता की कोई गिनती नहीं है। तथापि तू तप से भयभीत क्यों होता है ? अहो ! सादिअनन्त परमानन्द के कारणभूत उत्तम-तप के धारण करने में तुझे क्या हानि है ? सम्यक् तप का पालन करते हुए बाह्य में प्रतिकूलता आये उससे दुःखी न हो, सम्यक् तप तुझे किंचित् दुःख का कारण नहीं है किन्तु मोक्षदशा के परम सुख का कारण है।

उत्तमतप तो वीतरागभाव है और वीतरागभाव में दुःख नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव के आचरण दुःखरूप हैं। ऐसा होनेपर

भी यहाँ धर्मात्मा मुनि के उत्तमतप में अल्पदुःख क्यों कहा ? उसका कारण यह है कि किसी मन्द पुरुषार्थी जीव को प्रतिकूलता इत्यादि में लक्ष्य जाने पर खेद होता हो और कठिन मालूम पड़ता हो इससे किंचित् असन्तोष होजाता हो तो उस असन्तोष के कारण किंचित् दुःख होता है। इस अपेक्षा से—उपचार से तप में अल्पदुःख कहा है। वास्तव में तप का दुःख नहीं किन्तु खेद का दुःख है। खेदभाव तप नहीं हैं और तप में खेद नहीं है। अल्पक्लेश को मुख्य करके रत्नत्रयसहित उत्तमतप धर्म में उत्साह को हीन करना ठीक नहीं है।

धर्मात्मा जीव मुनिदशा में छट्ठे-सातवें गुणस्थान में रमण करते हों और सल्लेखना धारण की हो, तथापि किसी को अशक्ति के कारण किंचित् क्लेश होजाये और पानी की वृत्ति उठे, फिर भी अन्तरंग में भान है कि यह वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है, यह जो वृत्ति हुई वह चारित्र का भाग नहीं किन्तु दोष है। विशेष सहनशीलता नहीं है और दुःख होता है उसका आरोप करके तपमें अल्पदुःख कहा है। तथा चारित्र स्थिर रखने के लिये कहा है कि इससमय किंचित् दुःख से डरकर यदि चारित्र का ही अनादर कर देगा तो मिथ्यात्व होगा और उसके फल में जो अनन्त-दुःख मिलेगा उसे तू कैसे सहन करेगा ? इससमय अल्पदुःख सहन करेगा तो सम्यक्तप के फल में अनन्त मोक्षसुख को प्राप्त करेगा।

वास्तव में जो चारित्र को दुःख का कारण मानते हैं वे अज्ञानी हैं। जो लोग उपवास को एवं चारित्र को दुःख-दायक मानते हैं उनके सम्यक्दर्शन भी नहीं है। शुद्ध चिदानन्द आत्मा की प्रतीति करके, और उसके आनन्दानुभव में लीन होजानेपर इच्छाओं का नाश होजाये—वह उत्तमतप धर्म है। आचार्यदेव ऐसे उत्कृष्ट तप के लिये प्रेरणा करते हैं।

यहाँ उत्तमतप धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।



८–उत्तमत्याग धर्म

भाद्रपद शुक्ला–१२

दस धर्मों में आज उत्तमत्याग धर्म का दिन है। उसका वर्णन करते हैं:—

(शार्दूलविक्रीड़ित)

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दायते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा।
स त्यागो वपुशादि निर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
आकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः ॥१०१॥

सम्यक्प्रकार से श्रुत का व्याख्यान करना और मुनि इत्यादि को पुस्तक, स्थान तथा पिछी-कमण्डलादि संयम के साधन देना-वह धर्मात्माओं का उत्तमत्याग धर्म है। 'मैं शुद्ध आत्मा हूं मेरा कुछ भी नहीं है'—ऐसे सम्यक्ज्ञानपूर्वक, अत्यन्त निकट शरीर में भी ममत्व का त्याग करके शुद्धस्वरूप में रमणता प्रगट करने पर मुनियों के सर्व परभावों का त्याग होजाता है। आत्मा के भान-पूर्वक शरीरादि समस्त पदार्थों के ममत्व का त्याग किया, उसमें उत्तम आकिंचन्य धर्म भी आजाता है। आचार्यदेव ने एक ही श्लोक में दो धर्मों का वर्णन किया है।

आत्मप्रतीतिपूर्वक मुनिदशा प्रवर्तमान हो, किंतु अभी पूर्ण स्थिरता न होती हो और विकल्प उठे, उससमय मुनिगण श्रुत की-शास्त्र की यथार्थरीति से व्याख्या करें, उसे यहाँ त्यागधर्म कहा है। वास्तव में शास्त्र बांचने की क्रिया को या राग को धर्म नहीं कहा, किन्तु

उससमय अन्तरंग में वीतरागस्वभाव की रटन होनेपर जो राग का त्याग होता है वही उत्तमत्याग है। श्रुत की व्याख्या करते समय वाणी या विकल्प हो वह कहीं धर्म नहीं है। श्रुत का रहस्य तो आत्मस्वभाव है, वीतरागभाव ही सर्वश्रुत का प्रयोजन है। विकल्प होनेपर भी उससमय वीतरागी ज्ञानस्वभाव के आश्रय से सम्यक्श्रुत की वृद्धि होती है, और राग टलता जाता है—यही धर्म है वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा व्याख्यान करते हुए—अर्थात् आत्म-स्वभाव में विपरीतता न हो इसप्रकार से सम्यक्ज्ञान का मनन करनेपर मुनियों के उत्तमत्याग धर्म होता है। गृहस्थों के भी आत्मस्वभाव के लक्ष्य से श्रुत का मनन-स्वाध्याय करने से श्रुतज्ञान की निर्मलता बढ़ती है और राग नष्ट होता जाता है, इससे उनके भी उतने अंश में त्यागधर्म है। मिथ्यादृष्टि के तो मात्र अधर्म ही होता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही साधक जीव के निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म—ऐसे दो प्रकार हैं। जितना वीतरागभाव हुआ है उतना वास्तव में धर्म है, और जो शुभराग रहा वह वास्तविक धर्म तो नहीं है, किन्तु धर्मात्मा जीव के उस राग का निषेध विद्यमान है इससे उपचार से उसके धर्म कहा जाता है।

श्रुत की व्याख्या के शब्द आत्मा के नहीं हैं, आत्मा शब्दोंका कर्ता नहीं है, और जो शुभराग होता है वह भी आत्मा का स्व-भाव नहीं है। ऐसी प्रतीतिपूर्वक शुद्धस्वभाव के अनुभव में लीन न रह सकें तब धर्मात्मा जीवों के श्रुत के व्याख्यान आदि का शुभ-राग होता है, उससमय अशुभराग नहीं होता इस अपेक्षा से वह व्यवहार से त्याग है, और ज्ञान का ज्ञान में जितना मनन होता है उतना परमार्थत्याग है। परमार्थ से तो, जो श्रुतज्ञान है वह आत्मा ही है, इससे आत्मस्वभाव का मनन रहे, वही निश्चय से श्रुत की व्याख्या है और यही उत्तमत्याग धर्म है। त्याग के नव-प्रकार या उनंचास प्रकार तो व्यवहार से हैं। शुभराग के समय

किस-किस प्रकार के निमित्त होते हैं और राग का नाश करके ज्ञायकस्वभाव में लीनता होकर कैसे-कैसे प्रकार के निमित्तों पर से लक्ष्य छूट जाता है-यह बताने के लिये बाह्य भेदों से वर्णन है। जो जीव मूलभूत वस्तुस्वरूप को नहीं समझते वे भंग-भेद के कथन में अटक जाते हैं।

प्रश्न:—आत्मा वचन तो बोल नहीं सकता, फिर वहाँ मुनिजन श्रुत की व्याख्या करते हैं-ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर:—उपदेश में तो निमित्त की अपेक्षा से कथन होते हैं, किन्तु प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, ऐसा भेदज्ञान रखकर उनके अर्थ को समझना चाहिये। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव रागरहित है, जो राग है वह ज्ञान नहीं है। ज्ञान और राग भिन्न हैं, राग के कारण वचन बोलने की क्रिया नहीं होती। बाह्य वचन तो निमित्त मात्र हैं और उन वचनों की ओर का राग भी यथार्थ त्यागधर्म नहीं है, किन्तु उससमय स्वभाव के आश्रय से जो ज्ञानसामर्थ्य बढ़ता जाता है, वही त्याग है। वहाँ राग का त्याग होजाता है। यथार्थ भेदविज्ञान के बिना धर्माराधन नहीं होसकता और सच्चा क्षमाभाव नहीं होता। मिथ्यात्व ही सबसे महान क्रोध है, सम्यग्दर्शन के द्वारा उस मिथ्यात्व को नष्ट किये बिना क्षमाधर्म प्रगट नहीं होता।

अनादिकाल से अज्ञानभाव के कारण अपने आत्मस्वभाव पर स्वत: ही क्रोध किया है, वह क्रोध दूर होकर क्षमा किसप्रकार हो ? उसकी बात कही जाती है। क्षमा हो आत्मस्वभाव को ! अर्थात् पुण्य-पापरहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके वीतरागभाव प्रगट करूँ और राग के एक अंश से भी स्वभाव को खण्डित न करूँ-इसका नाम यथार्थ क्षमा है। जितना राग हो उतना अपराध है, और जो राग को आत्मा के हित में कारण माने वह तो आत्मस्वभाव पर अपार क्रोध करनेवाला है।

धर्म-ग्रंथ आदि के दान करने को गृहस्थ का त्यागधर्म कहा है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ धर्मात्मा जानता है कि बाह्य में पुस्तकादि लेने-देने की क्रिया आत्मा की नहीं है और अन्तरंग में 'वीतराग शासन जयवन्त रहे, साधक-धर्मात्मा विद्यमान रहें और सम्यक्श्रुत ज्ञान की वृद्धि हो' ऐसी भावनारूप जो विकल्प हैं वह भी राग है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। अन्तरंग में परिपूर्ण शुद्धचैतन्य स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जो ज्ञान की निर्मलता बढ़ती है और राग दूर होता है, वह त्याग है, और वही धर्म है। परमार्थ से तो ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुआ वही त्याग है, आत्मा ने राग को छोड़ दिया-यह भी उपचार से है। पर्याय में राग था और उसे छोड़ा, यह कथन व्यवहारनय का-पर्याय अपेक्षा का है। स्वभाव से न तो आत्मा ने राग किया है और न उसे छोड़ा भी है। राग आत्मा के स्वभाव में था ही नहीं, तब फिर उसका त्याग किस-प्रकार कहा जाये? राग तो पर्यायदृष्टि में था, जहाँ पर्यायदृष्टि ही दूर होगई और स्वभावदृष्टि हुई वहाँ राग है ही नहीं। इससे आत्मा को राग का त्याग करनेवाला कहना सो उपचारकथन है। फिर जिससमय राग होता है उससमय तो उसका त्याग नहीं होता, किन्तु आत्मा जब स्वभावमें एकाग्र रहता है तब राग की उत्पत्ति ही नहीं होती; इससे 'राग का त्याग किया' ऐसा कहा जाता है। स्वभाव की लीनता में रहते हुए राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई उसका ही नाम राग का त्याग है। त्रैकालिक स्वभाव रागरहित ही है-ऐसी श्रद्धा होने पर श्रद्धा में से समस्त राग का तो त्याग हो ही गया। रागरहित त्रैकालिक स्वभाव के अनुभव बिना पर्याय में से राग का त्याग नहीं होसकता। जो राग को अपना स्वरूप मानता हो वह जीव राग का त्याग कर ही नहीं सकता।

श्री समयसारजी गाथा ३४ में ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा है, अर्थात् ज्ञान ज्ञानरूप में परिणमित हो गया और रागादिरूप परिणमित नहीं हुआ, वही त्याग है। आत्मा को परभाव के त्याग

का कर्तृत्व तो नाममात्र है वह स्वतः ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना, पश्चात् परभावों का ग्रहण नहीं हुआ वही त्याग है। इसप्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। यह निश्चय से त्याग का स्वरूप है। मात्र ज्ञानस्वभाव में स्थिर होनेपर राग होता ही नहीं इससे वह ज्ञान स्वतः ही राग के त्यागस्वरूप है। आत्मा ने राग का त्याग कर दिया यह कहना भी व्यवहार है।

और यहाँ पद्मनन्दि में तो कहा है कि मुनिओं को पिछी-कमण्डल, शास्त्रादि देना वह उत्तमत्याग है, सम्यक्श्रुत की व्याख्या करना सो उत्तम त्याग है,—यह व्याख्या व्यवहार से है। सम्यग्दृष्टि जीव के जब आत्मस्वभाव में स्थिरता नहीं रहती उससमय किसप्रकार का शुभराग होता है वह बतलाया है और उस राग के समय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र विद्यमान हैं उनका उपचार करके शुभराग को त्यागधर्म कहा है। वास्तव में तो अन्तरंग में ज्ञान का मंथन होने-पर जो वीतरागभाव की वृद्धि होती है सो वही त्याग है। पुस्तक देने–लेने की अथवा बोलने की क्रिया का कर्ता वास्तव में आत्मा है-ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसके पर का अहङ्कार है इसलिये उसके सच्चा त्याग नहीं होता। ज्ञानिओं को स्वभाव के बहुमान के बल से ज्ञान की एकाग्रता में वृद्धि हुई, इससे उससमय बाह्य में होनेवाली शास्त्रादि लेने–देने की क्रिया में उपचार करके उनके त्यागधर्म कहा है। बाह्यक्रिया के समय एवं राग के समय ज्ञानी का अन्तरंग अभिप्राय क्या है—वह समझना चाहिये। यदि राग से भिन्न आत्मा के ज्ञानस्वभाव का विश्वास करे तो ज्ञानी का अन्तरंग–हृदय समझ में आये। जो स्वतः रागादि के साथ ज्ञानस्वभाव को एकमेक मानता है उसे ज्ञानी के हृदय की यथार्थ पहिचान नहीं होती। ज्ञानी का ज्ञान राग से और जड़ की क्रिया से भिन्न है। लोगों की भाषा में तो बाह्य से ऐसा कहा जाता है कि यह लिया और यह दिया, किन्तु ज्ञानी वास्तव में किसी भी बाह्य क्रिया में नहीं हैं, राग में भी नहीं हैं, ज्ञानी तो

चैतन्यस्वभाव में ही हैं, ऐसा भेदज्ञान अपने आत्मा में करना ही समाधान है। यदि स्वतः भेदज्ञान करे तो यह जानले कि ज्ञानी क्या करते हैं। कोई ऐसा कहे कि यह तो दूसरों को निरुत्तर बनाने का साधन है—तो कहते हैं कि भाई! यह निरुत्तर करने के लिये नहीं है किन्तु वस्तुस्थिति ही ऐसी है। उलटा तुझसे ऐसा कहा है कि प्रथम तू अपने ज्ञान को राग से भिन्न जान, अर्थात् तू स्वतः ज्ञानी हो, तो तुझे ज्ञात हो कि ज्ञानी क्या करते हैं? ज्ञानी ज्ञान-भाव ही करते हैं, जो राग होता है उसे स्वभावरूप से स्वीकार नहीं करते, इससे वे वास्तव में राग को ग्रहण नहीं करते किन्तु त्यागते हैं। ऐसे वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना ही अनन्तकाल के मिथ्यात्व को त्याग करने का उपाय है। बाह्यदृष्टि जीव बाह्य के त्याग को देखते हैं; किन्तु आत्मस्वभाव की यथार्थ पहिचान करने पर धर्मात्मा के मिथ्यात्व का ऐसा अपूर्व त्याग होता है कि जो अनन्तकाल में भी नहीं हुआ हो, वे उसे नहीं देखते। ज्ञानी पर की क्रिया के कर्ता कभी होते हो नहीं, वे तो अपने ज्ञान का ही कार्य करते हैं, ज्ञानी राग को धर्म नहीं मानते, ज्ञान में स्थिर होने से राग का अभाव होता है, उसका नाम वास्तव में उत्तमत्याग धर्म है। अहो! जैनशासन में ज्ञान और राग की भिन्नता स्पष्ट ही कही है, किन्तु अज्ञानी उन्हें भिन्न न देखें तो इससे क्या?

यह दस धर्मों का कथन आत्मा की चारित्रदशा बतलाने के लिये है। चारित्रदशा सम्यग्दर्शन के बिना नहीं होती जिसके सम्यग्दर्शन न हो उसे यह समझ में नहीं आयेगा कि चारित्रदशा कैसी होती है, और शास्त्र में व्यवहार के कथनों का आशय भी वह नहीं समझ सकेगा।

भाद्रपद शुक्ला १२ (द्वितीय)

दो द्वादशी होने से आज उत्तम त्यागधर्म के वर्णन का दूसरा दिन है। यह समस्त धर्म संवर धर्म के भेद हैं। मूल तो एक ही

प्रकार का वीतरागभावरूप संवर है, किन्तु राग के निमित्त से, उपचार से दस भेद कहे गये हैं। जितनी वीतरागता उतना ही धर्म है। किन्तु किसप्रकार के विकल्प से हटकर वीतरागभाव में एकाग्र होता है? अर्थात् वीतरागभाव के पूर्व किसप्रकार का विकल्प था, वह बतलाने के लिये यह दस भेद हैं। यदि क्षमा सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थिर हो तो उसे 'उत्तमक्षमा धर्म' कहा है, इस भाँति अनेक प्रकार से रागरहित आत्मा को समझे और राग के अनेक प्रकारों को जाने तो ज्ञान की दृढ़ता हो। रागरहित चैतन्यस्वभाव की श्रद्धापूर्वक आराधना करते हुए बीच में प्रमाद होने से विकल्प उठते हैं, उस प्रमाद को दूर करके स्वभाव के अवलम्बन से विशेष स्थिरता करना, उसे यहाँपर उत्तमत्याग धर्म कहा है। ऐसा त्याग मुख्यतय: सातवें गुणस्थान से होता है और गौणरूप से तो चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

मुनिदशा में स्वभाव की एकाग्रता से अनन्तानुबन्धी आदि तीन प्रकार के कषाय का अभाव होगया है, उतना त्याग तो सामान्यरूप से है ही, उसकी यहाँपर बात नहीं है, किन्तु मुनि को विकल्प उठने पर छट्ठा गुणस्थान आये उससमय विशेष प्रमाद न होने देना और उस विकल्प को तोड़कर वीतरागी एकाग्रता प्रगट करना—ऐसे विशेष त्याग के लिये यह बात है। जितनी दशा प्रगट हुई है वहीं के वहीं में प्रमाद करके न रुककर, स्वरूपस्थिरता के बल से प्रमाद का परिहार करके आगे बढ़ने के लिये इन दसप्रकार के उत्तम धर्मों का उपदेश है। यहाँपर बाह्य के त्याग की बात ही नहीं है, मुनि के बाह्य में समस्त परिग्रह का त्याग होता है—ऐसे बाह्यत्याग की बात नहीं है; अन्तरंग में मुनि के अधिकांश विभाव दूर होगया है, उतना त्यागधर्म तो प्रगट हुआ है; किन्तु उसकी यहाँ बात नहीं है। स्वरूपस्थिरतारूप चारित्रदशा प्रगटी होने पर भी मुनि के जो शुभविकल्प उठते हैं उन्हें दूर करके, विशेष ज्ञान—ध्यान में आगे बढ़े—वह उत्तमत्याग धर्म है।

मुनिओं के चारित्रदशा विद्यमान रहती है और बाह्याभ्यंतर त्याग होता है–ऐसी बात त्याग धर्म के वर्णन में नहीं की है; क्योंकि यहांपर तो जिन मुनिओं को विकल्प उठता है उनकी अपेक्षा से कथन है अर्थात् मुनिदशा में जो विकल्प उठता है उसका त्याग करके वीतरागभाव प्रगट करने की बात है। तथापि यहां निमित्त की अपेक्षा से कथन है; इससे कहा गया है कि मुनि जो श्रुत का व्याख्यान करते हैं सो उत्तमत्याग धर्म है। वास्तव में तो वाणी जड़ है, शास्त्रके शब्द जड़ हैं, और जो व्याख्यान का विकल्प है सो राग है, इसमें कहीं त्यागधर्म नहीं है। किन्तु उससमय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वभाव की भावना के बल से जो ज्ञान की एकाग्रता में वृद्धि होती है और राग नाश होता है वही त्याग धर्म है।

शास्त्र का व्याख्यान करने को उत्तमत्याग कहा है, उसका क्या आशय है? शास्त्र का प्रयोजन वीतरागभाव है। सर्व शास्त्रों के सारभूत शुद्धात्मा को पहिचानकर वीतरागभाव प्रगट करना ही परमार्थ से श्रुत का व्याख्यान है, और वही उत्तमत्याग है। मात्र शास्त्रों की व्याख्या तो अज्ञानी भी करते हैं, अभव्य जीव ग्यारह अंगों का पठन करले और शास्त्रों का व्याख्यान करे तथापि उसके अंशमात्र भी त्यागधर्म नहीं होता। इसलिये मात्र शास्त्र की बात नहीं है, किन्तु शुद्धात्मा की भावना के बल से निश्चय चारित्रदशा की वृद्धि होती है और राग नष्ट होता है वह धर्म है। यहांपर बाह्य निमित्त से कथन किया है।

मुनिवरों को शास्त्रादि देना, उसे भी त्याग धर्म कहा है। कोई मुनि स्वत: कोई नवीन शास्त्र पढ़ रहा हो और किसी अन्य मुनि को वह शास्त्र पढ़ने की उत्कंठा हो तो उसीसमय उसे पढ़ने के लिये दे देते हैं; स्वयं शास्त्र की ओर के विकल्प को तोड़कर स्वभाव मे स्थिर होजाते हैं। स्वभाव के बल से विकार की जो

अस्वीकृति है उसका नाम त्याग है। वहाँ मुनि के चारित्रदशा की वृद्धि होती है।

मुनियों के शास्त्र पढ़ने का आग्रह नहीं है–विकल्प की पकड़ नहीं है; किन्तु वीतरागभाव की भावना है। मुनि शास्त्र का स्वाध्याय कर रहे हों और दूसरे मुनि को वह शास्त्र देखकर हर्ष हो, तो तुरन्त ही पहले मुनि वह शास्त्र उन्हें पढ़ने के लिये देते हैं। किन्तु 'इस नये शास्त्र में क्या विषय हैं, वे पहले मैं देख लूं, और पश्चात् उन्हें दूं" ऐसा आग्रह नहीं होता; क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन तो वीतरागभाव है, और स्वतः भी शास्त्र की ओर का विकल्प तोड़ना ही चाहते हैं। अन्तरंग में स्वभाव के बल से पढ़ने की वृत्ति का वेग नष्ट कर देते हैं, उसका नाम उत्तमत्याग धर्म है। श्रुत की प्रभावना हो, अर्थात् वास्तव में तो अपने आत्मा में स्वभाव के आश्रय से राग को नष्ट करके ज्ञान की वृद्धि हो–ऐसे भाव से जो शास्त्र की ओर के विकल्प का नाश कर देते हैं उन मुनि का उत्तमत्याग धर्म है। शास्त्र पढ़ने में भी ज्ञान की वृद्धि का और राग को कम करने का प्रयोजन था, वही प्रयोजन शास्त्र की वृत्ति को तोड़कर सिद्ध किया। स्वभाव में लीन होने से शास्त्र के ओर की वृत्ति को तोड़कर अनन्त केवलज्ञान को निकट लाते हैं। स्वभाव की प्रतीति पूर्वक गृहस्थों के भी अपनी भूमिकानुसार उत्तमत्याग धर्म होता है।

यहाँ उत्तमत्याग धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।



९–उत्तमआकिंचन्य धर्म

भाद्रपद शुक्ला–१३

(शिखरणी)

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः ।
तपस्यंतोन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतो
सहायाः स्युर्ये ते जगति यमिनो दुर्लभतरा ॥ १०२ ॥

जिनका मोह नष्ट होगया है और अपने आत्महित में निरन्तर लीन हैं तथा पवित्र चारित्र को धारण करनेवाले हैं और जो गृहादि को त्यागकर मोक्ष के अर्थ से तप कर रहे हैं–ऐसे मुनि विरले ही होते हैं। जो अपने हित के लिये तप कर रहे हैं उसीप्रकार अन्य तपस्वी मुनिओं को शास्त्रादिक दान करते हैं और उनके सहायक हैं–ऐसे योगीश्वर इस जगत में दुर्लभ हैं।

मुनिओं के शास्त्र का अगाध ज्ञान हो तो भी उसका उनके ममत्व अथवा अभिमान नहीं होता। दूसरे मुनिओं को ज्ञान का उपदेश देने में वे किंचित् संकोच नहीं करते, "मैं अपना सारा रहस्य इससे कह दूंगा तो यह मुझसे आगे बढ़ जायेगा" ऐसे ईर्ष्याभाव का विकल्प भी मुनि के नहीं होता। अन्य कोई अपने से आगे बढ़कर अपने से पूर्व केवलज्ञान प्राप्त करता हो तो उसमें अनुमोदना है। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि गृहस्थों को भी ज्ञानचारित्रादि गुणों में जो अपने से बढ़ा हुआ हो उसके प्रति अनु-

मोदना और बहुमान होता है। विकल्प के समय यदि अधिक गुणवान के प्रति अनुमोदना न हो तो वैसे जीव को गुण की रुचि नहीं है। मुनिजन अन्तरंग में किंचित् भी छिपाये बिना सरलता से पात्र जीव को सर्व रहस्य का उपदेश करते हैं। उपदेश के विकल्प को भी अपना नहीं मानते। जिनके शरीर का और विकल्प का ममत्व नहीं है तथा आहार एवं उपदेशादि के विकल्प को तोड़कर वीतरागस्वभाव में स्थित हैं-ऐसे उत्तम आकिंचन्यधर्म में रत मुनिगण इस संसार में धन्य हैं। उनके चारित्रदशा विद्यमान है, केवलज्ञान प्राप्त करने की पूरी तैयारी है, बारह अंग का ज्ञान हो तो भी उसमें आसक्ति नहीं है; अभी किसी समय किंचित् उपदेशादि की वृत्ति उठती है उसे छोड़कर स्वभाव में एकदम सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने के कामी हैं-ऐसे मुनिजन दुर्लभ हैं। उपदेशादि में किसी उच्च बात को अथवा महिमावन्त न्याय को मुनि छुपाते नहीं हैं, ज्ञानदान देने से कहीं ज्ञान कम रह जाता हो ऐसा नहीं है, किन्तु उलटे अपने ज्ञानस्वभाव को भावना का मंथन करने से ज्ञान एकदम विकसित होता जाता है। लोकव्यवहार में भी जिसे अपने पुण्य का विश्वास होता है वह जीव दान में लक्ष्मी आदि खर्च करने में सहज में ही उदार होता है; दान में अधिक लक्ष्मी खर्च करने से मेरी लक्ष्मी घट जायेगी ऐसी शंका उसे नहीं होती। वैसे ही लोकोत्तर मुनिवरों को भी अपने पुरुषार्थ की प्रतीति है कि मेरे ज्ञान का विकास रुकनेवाला नहीं है, अपने स्वभाव के आश्रय से मेरे ज्ञान की वृद्धि ही है। वे मुनि दूसरों को शास्त्रज्ञान देने में किंचित् भी हिचकिचाहट नहीं करते। स्वतः को उपदेश की वृत्ति में अटकने की भावना नहीं है, किन्तु वृत्ति को तोड़कर स्वभाव में ही एकाग्र रहकर पूर्ण ज्ञान की भावना है-ऐसे मुनिवरों के उत्तमआकिंचन्य धर्म होता है। आकिंचन्य अर्थात् परिग्रह रहितता। ममता ही परिग्रह है। ममतारहित वीतरागभाव सो उत्तमआकिंचन्य धर्म है। भेदज्ञान

द्वारा पर से भिन्न स्वभाव को जाने बिना पर के ऊपर का ममत्व दूर नहीं होता और धर्म भी नहीं होता।

श्री मुनिओं के आकिंचन्यधर्म को अभी विशेषरूप से समझाते हैं:—

(शिखरणी)

परंमत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते
जिनेन्द्राज्ञा भंगो भवति च हठात् कल्मषऋषेः ॥१०३॥

श्रुत के रहस्य को जाननेवाले वीतरागी मुनिओं ने समस्त परवस्तुओं को अपने आत्मा से भिन्न जानकर उनका त्याग कर दिया है; इससे उनके उत्तमआकिंचन्य धर्म है। यदि कोई पूछे कि शरीर और पुस्तकादि तो निकट हैं—उनका त्याग क्यों नहीं किया? उसका उत्तर—वह भी त्याग समान ही है। शरीरादि में ममत्व का अभाव होने से वे नहीं होने के समान ही हैं। आयुकर्म नाश हुए बिना शरीर नहीं छूटता किन्तु शरीर के ऊपर का ममत्व छूट सकता है। अरिहन्तों के भी बाह्य में शरीर तो विद्यमान है किन्तु उनके ममत्व का नितांत अभाव है इससे उन्हें शरीर का भी परिग्रह नहीं है। मुनि यदि हठपूर्वक शरीर को छोड़े तो जिनाज्ञा का भंग हो। हठ से प्राणत्याग करना तो हिंसा है।

देह का संयोग छूटना मुनि के अधीन नहीं है। वस्त्रादि का राग छूट जाने पर बाह्य में वस्त्रादि भी छूट जाते हैं,—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु वस्त्र की भाँति, शरीर के ऊपर का ममत्व छूट जाने पर शरीर भी छूट जाये—ऐसा नियम नहीं है। देह तो परमाणुओं का संयोग है, उसका वियोग आयुकर्म की स्थिति पूर्ण होने पर होता है, किन्तु उसका ममत्व छोड़कर निर्मोही

चैतन्यस्वभाव में जागृत रहना सो उत्तमग्राकिंचन्य धर्म है। मुनिओं के शरीर, वाणी, पुस्तकादि विद्यमान होनेपर भी उनके प्रति वे किंचित् ममत्व नहीं रखते इससे उनके उत्तम ग्राकिंचन्य धर्म है।

यहाँपर कोई प्रश्न करे कि मुनिओं के जैसे शरीरादि बिना ममत्व होते हैं वैसे ही बिना ममत्व वस्त्र भी माने जायें तो इसमें क्या आपत्ति है ? उत्तर—शरीर, आहार, पुस्तक इत्यादि तो संयम के निमित्त हैं, वस्त्र संयम के निमित्त नहीं हैं; वस्त्र तो राग के—ग्र-संयम के निमित्त हैं। बुद्धिपूर्वक वस्त्र रखे—वस्त्र को ओर का विकल्प हो तथापि कोई कहे कि मुझे उसके प्रति राग नहीं है, तो उसकी बात मिथ्या है। वस्त्र का संयोग कब निर्ममत्वरूप से गिना जाये ? जब मुनिराज सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त ग्रात्मध्यान में लीन हों, एवं बाह्य पदार्थों का लक्ष्य ही न हो उससमय ग्रन्य कोई आकर उनके ऊपर वस्त्र डाल जाये तो उससमय परीषह माना जाता है और उससमय उन मुनि को वह वस्त्र राग का नहीं किन्तु ज्ञान का निमित्त है। उस वस्त्र के साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। वस्त्र धारण करने का राग होनेपर भी यदि मुनित्व माने तो उस जीव के सम्यक्दर्शन भी नहीं होता। मुनिदशा का और निर्ग्रंथता का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु मुनिदशा का और वस्त्र का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। वस्त्र पर से ममत्व छूट जाने पर पश्चात् वस्त्र धारण करने की बुद्धि हो ऐसा हो ही नहीं सकता। वस्त्र त्याग करने की क्रिया आत्मा की नहीं है, वस्त्र तो स्वतः उनके अपने कारण से छूटते हैं। किन्तु वस्त्र का राग छोड़ने पर बाह्य में बुद्धिपूर्वक वस्त्र का संग होता ही नहीं, ऐसा नियम है। मुनिदशा में विकल्प उठे उससमय शास्त्र इत्यादि का आलम्बन होता है, किन्तु उनका भी आग्रह नहीं होता; फिर वस्त्र धारण करने का राग तो अशुभभाव है, वह तो मुनिदशा में होता ही नहीं। वास्तव में शास्त्र तो वीतरागभाव का निमित्त है, जब साक्षात् वीत-

रागभाव में लीनता नहीं होती और विकल्प उठता है उससमय अशुभभाव से बचकर जितना वीतरागभाव स्थिर रखता है, उतना ही परमार्थ से आकिंचन्यधर्म है, उससमय के शुभराग को उपचार से आकिंचन्यधर्म कहा जाता है। जिसे शुभराग का ममत्व है उसके तो मात्र अधर्म है। राग का ममत्व छोड़कर रागरहित स्वभाव के श्रद्धा-ज्ञानपूर्वक ही धर्म होता है।

कोई स्वच्छन्दी जीव ऐसा कहे कि:—जैसे मुनिओं को शरीर के प्रति ममत्व न होने पर भी शरीर होता है, वैसे ही हमारे अन्तरंग में ब्रह्मचर्य का भाव प्रवर्तमान है तथापि बाह्य में स्त्री का संग हो तो क्या विरोध है? उसकी बात बिल्कुल विपरीत है। शरीर तो आयुकर्म के कारण ममत्व-रहित भी हो सकता है, किन्तु स्त्रीसंग अब्रह्मचर्यरूप पापभाव के बिना नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्यभाव हो और स्त्रीसंग की बुद्धि हो—ऐसा नहीं होता। जो शरीर और शास्त्र के प्रति ममत्व करे उस मुनि के भी जिन-आज्ञा का भंग है। मुनि का अर्थ है अत्यंत निस्पृह वीतरागता; मुनि आकाश की भाँति निरावलम्बी वृत्ति वाले होते हैं। एकबार आहार लेते हैं, वह भी शरीर के ममत्व के कारण नहीं लेते; किन्तु संयम के निभाव की वृत्ति से लेते हैं। आहार लेने को जाते हुए यदि आहार में दोष का विकल्प उठे तो अन्तराय जानकर, आहार की वृत्ति को तोड़कर किंचित्मात्र खेद के बिना लौट जाते हैं, और पश्चात् आत्मानुभव में लीन होजाते हैं। इसप्रकार शरीर से भी अत्यन्त विरक्ति होती है, और अपने स्वभाव में वीतरागता का मंथन करते हैं। ऐसे मुनिओं के उत्तम आकिंचन्य धर्म होता है, वह मोक्ष का कारण है।

यहाँ उत्तमआकिंचन्य धर्म का व्याख्यान पूर्ण हुआ।



१०—उत्तमब्रह्मचर्य धर्म

भाद्रपद शुक्ला–१४

आज दशलक्षणपर्व का अन्तिम दिन है। आज उत्तमब्रह्मचर्य धर्म का दिन माना जाता है। 'ब्रह्म' का अर्थ है आत्मा का स्वभाव; उसमें विचरना, परिणमन करना, लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। विकार और पर के संग से रहित आत्मस्वभाव कैसा है–वह जाने बिना उत्तमब्रह्मचर्य नहीं होता। लौकिकब्रह्मचर्य शुभराग है, धर्म नहीं है और उत्तमब्रह्मचर्य धर्म है राग नहीं है। शुद्ध-आत्मस्वभाव की रुचि के बिना विषयों की रुचि दूर नहीं होती। मेरी सुखदशा मेरे ही स्वभाव में से प्रगट होती है, उसके प्रगट होने में मुझे किसी की अपेक्षा नहीं है–ऐसी पर से भिन्न स्वभाव-की दृष्टि हुए बिना विषयों की रुचि नहीं छूटती। बाह्य में विषयों का त्याग करदे, किन्तु अन्तरंग से विषयों की रुचि दूर न करे तो वह ब्रह्मचर्य नहीं है। स्त्री, घरबार छोड़कर त्यागी होजाये, अशुभ-भाव छोड़कर शुभ करे, किन्तु उस शुभभाव में जिसे रुचि एवं धर्म-बुद्धि है उसके वास्तव में विषयों की रुचि दूर नहीं हुई। शुभ अथवा अशुभ विकार परिणामों में एकताबुद्धि ही अब्रह्मपरिणति है, और विकाररहित शुद्ध आत्मा में परिणाम की एकता ही ब्रह्मपरि-णति है। यही परमार्थ ब्रह्मचर्यधर्म है।

यहाँपर सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनि की चारित्रदशा के ब्रह्मचर्य की बात है। जगत के सर्व विषयों से उदासीन होकर आत्मस्वभाव में चर्या प्रगट हुई–वह ब्रह्मचर्य है और उसके फलस्वरूप उनको

परमात्मपद अवश्य मिलेगा ही। स्वभाव में एकता की, और पर से निरपेक्ष हुआ—वहाँ जो वीतरागभाव प्रगट हुआ वह ब्रह्मचर्यधर्म है। यहाँपर श्री पद्मनन्दि मुनिराज ब्रह्मचर्यधर्म का वर्णन करते हैं:—

(स्रग्धरा)

यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्णदुःखौघ धारं,
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृति भ्रान्ति संसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमतिः शान्तमोह : प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिवहरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम् ॥ १०४ ॥

इस श्लोक में 'अमलमति' शब्द पर भार है। अमलमति का अर्थ है पवित्रज्ञान—सम्यग्ज्ञान। जिनके सम्यग्ज्ञान हुआ है—ऐसे आत्मा कदापि स्त्री आदि में सुखबुद्धि नहीं करें। आत्मा में एकाग्र रहनेवाले मुमुक्षु और मुनिजन कभी भी स्त्री का संग—परिचय न करें। स्त्री आदि विषयों में सुखबुद्धि करने से जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि—जैसे कुम्हार के चाक का आधार कीली है और उस चाक पर रखे हुए मिट्टी के पिण्ड के अनेक आकार बनते हैं—ऐसे ही इस संसाररूपी चाक का आधार स्त्री है और अनेक-प्रकार के विकार करके जीव चारों गतियों में परिभ्रमण करता है। जो मोक्षाभिलाषी जीव सम्यग्ज्ञानपूर्वक विषयों की रुचि छोड़कर उन स्त्रियों को माता, बहिन, पुत्री के समान मानता है उसके ही उत्तम-ब्रह्मचर्य धर्म का पालन होता है। जिनकी बुद्धि निर्मल हुई है और मोह शान्त होगया है—ऐसे ब्रह्मचारी आत्माओं को कदापि स्त्रीसंग नहीं करना चाहिये।

उपदेश में जहाँ निमित्त की मुख्यता से वचन आयें, वहाँ उनका सच्चा भावार्थ समझ लेना चाहिये। यहाँपर स्त्री को संसार का आधार कहा है वह निमित्त की अपेक्षा से है। वास्तव में कहीं स्त्री, जीव को परिभ्रमण नहीं कराती, किन्तु अपने स्वभाव से

छूटकर स्त्री की सुन्दरता में और विषय में जीव को रुचि हुई-वह मिथ्यापरिणति है तथा वही संसार का आधार है। स्वभाव की अपेक्षा एवं पर की अपेक्षा सो ब्रह्मचर्य है, और वह मोक्ष का आधार है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहिले भी जिज्ञासु जीवों के विषयों की मिठास छूटकर ब्रह्मचर्य का प्रेम होता है। जिसके अन्तर मे विषयों की मिठास भरी है उस जीव के चैतन्यतत्त्व की प्रीति नहीं है। चैतन्य का सहजानन्द विषयरहित है। उस सहज-आनन्दमय चैतन्यस्वरूप की रुचि छूटकर जिसे इन्द्रानी आदि की ओर के राग में मिठास आती है वह जीव मिथ्यादृष्टि है। निमित्तों की उपेक्षा करके स्वभाव में एकता करना सो ब्रह्मचर्य है, वह मुक्ति का कारण है; और आत्मा को निमित्तों की अपेक्षा है-ऐसी पराश्रितदृष्टि विषय है, वह संसार का कारण है।

आत्मस्वभाव की प्रतीति के बिना स्त्री को छोड़कर यदि ब्रह्मचर्य पाले तो वह पुण्य का कारण है, किन्तु वह उत्तमब्रह्मचर्य धर्म नहीं है, और उससे कल्याण नहीं होता। विषयों में सुखबुद्धि अथवा निमित्त की अपेक्षा का उत्साह संसार का कारण है। यहांपर जिसप्रकार पुरुष के लिये स्त्री को संसार का कारणरूप कहा है, उसीप्रकार स्त्रियों को भी पुरुष की रुचि सो संसार का कारण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि इस जगत में स्त्री न होती तो यह संसार भी न होता, अर्थात् जीव की दृष्टि यदि स्त्री आदि निमित्तों पर न होती तो उसकी दृष्टि स्वभाव पर होती, और स्वभावदृष्टि होती तो यह संसार न होता। स्वभावदृष्टि से स्वभाव का आनन्द प्रगट हुए बिना नहीं रहता। स्वभावदृष्टि को छोड़कर मिथ्यात्व से स्त्री आदिक में सुख माना-तब स्त्री को संसार का कारण कहा गया। स्त्री आदि निमित्त के आश्रय से राग करके ऐसा माने कि 'इसमें क्या अड़चन है ?' अथवा 'इसमें सुख है' ऐसा माननेवाला जीव स्वभाव का आश्रय चूककर संसार में भ्रमण

करता है। आत्मा का शुद्ध उपादान स्वभाव तो परम-आनन्द का कारण है; किन्तु उसे भूलकर निमित्त का आश्रय किया–इससे उस निमित्त को ही संसार का कारण कहा है। यह क्षणिक संसारभाव जीव के स्वभाव के आधार से नहीं होता किन्तु निमित्त के आधार से होता है–ऐसा बताने के लिये स्त्री को संसार का आधार कहा है। जैसे छोटी सी कीली के आधार पर चाक घूमता है वैसे ही अपनी परिणति की गहराई में पराश्रय में सुख मानता है, उस मान्यतारूपी धुरी के ऊपर जीव अनन्तप्रकार के संसार में भ्रमण करता है, जीव के संसारचक्र की धुरी मिथ्यात्व है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि:—

"आ सबला संसारनी रमणी नायकरूप,
अे त्यागी त्याग्युं बधुं केवल शोकस्वरूप।"

यह बात निमित्त की अपेक्षा से है। वास्तव में स्त्री संसार का कारण नहीं है। पूर्व भवों में अनन्तबार द्रव्यलिंगी साधु होकर स्त्री का संग छोड़ा और ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया तथापि कल्याण नहीं हुआ। अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर निमित्त का–पुण्यका–व्यवहार का आश्रय माना वही मैथुन है। पुण्य-पाप भावों की रुचि ही महान भोग है। उसके बाह्य में कदाचित् संयोग न दिखलाई दे किन्तु अन्तरंग में तो प्रतिक्षण विकार का ही उपभोग करता है।

पूर्ण वीतरागी ब्रह्मचर्य दशा पुरुष के ही होसकती है, इससे पुरुष की मुख्यता से कथन है। स्त्री को पांचवें गुणस्थानपर्यंत की दशा होती है, विशेष उच्चदशा नहीं होती, पंचपरमेष्ठी पद में उसका स्थान नहीं है; इससे शास्त्रों में उसकी बात मुख्यरूप से नहीं आती, किन्तु गौणरूप से उसकी भूमिका के अनुसार समझना चाहिये। स्त्री के लिये पुरुष के संग की रुचि सो संसार का कारण है।

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की नववाड़ कही है, वह नववाड़ उस-प्रकार के राग से बचने के लिये है, किन्तु 'परद्रव्य हानि करता है'–ऐसा बतलाने के लिये नहीं कही है। 'अपने भाव शुद्ध हैं और परद्रव्य हानि नहीं पहुँचाते, इसलिये वाड़ तोड़ने में क्या आपत्ति है? स्त्री आदिक के परिचय में क्या अड़चन है? ऐसे कुतर्क से यदि रुचिपूर्वक ब्रह्मचर्य की वाड़ को तोड़े तो वह जीव जिनाज्ञा का भंग करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। 'परद्रव्य हानि नहीं करते इसलिये ब्रह्मचर्य की वाड़ को तोड़ने में क्या बाधा है?' अर्थात् स्वद्रव्य का अवलम्बन छोड़कर परद्रव्य का अनुसरण करने में बाधा क्या है? ऐसी बुद्धिवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। हे स्वच्छन्दी! परद्रव्य हानि नहीं करते, यह बात तो ऐसी ही है, किन्तु यह जानने का प्रयोजन तो परद्रव्य से परांगमुख होकर स्वभाव में सन्मुख होना था या स्वच्छन्दरूप से परद्रव्यों के अनुसरण करने का? जैसे परद्रव्य हानि नहीं करते वैसे ही परद्रव्य से तुझे लाभ भी नहीं होता–ऐसा समझनेवाले के पर के संग की भावना ही कैसे हो? पर से हानि नहीं है इसलिये पर का संग करने में बाधा नहीं है–ऐसी जिसकी भावना है वह जीव स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है, वह तत्त्व को नहीं समझा। जो तत्त्वज्ञान वीतरागता का पोषक है उस तत्त्वज्ञान की ओट में स्वच्छन्दी जीव अपने राग का पोषण करता है, उसे कभी भी यथार्थ तत्त्वज्ञान परिणमित नहीं होता। 'अहो! मेरे आत्मा को पर से कुछ भी लाभ-हानि नहीं है'–ऐसा समझने से तो पर की भावना छूटकर स्वभाव की भावना होती है। उसके बदले में जिसको स्वभाव की भावना न हुई किन्तु पर के संग की रुचि हुई–वह मिथ्यादृष्टि है, वीतरागमार्ग से भ्रष्ट है, उसने विकार को विघ्नकारक नहीं माना। पहले तो स्त्री आदिन के संग से पाप मानकर भयभीत रहता था, और अब पर से हानि नहीं है–ऐसा मानकर उलटा निःशंकरूप से राग के प्रसंगों में युक्त होकर स्वच्छन्दता का पोषण करता है, ऐसे जीव के विकार और स्वभाव का भेदज्ञान

करने की महिमा नहीं है। उसमें सत् को समझने एवं सुनने की भी पात्रता नहीं है। ज्ञानमूर्ति चैतन्यस्वभाव के भानपूर्वक जो नववाड़ है वह उसप्रकार के अशुभराग का अभाव बतलाती है। ब्रह्मचारी जीव के वैसा अशुभराग सहज ही नष्ट होगया है। ब्रह्मचारी हो और स्त्री के परिचय का भाव आये—ऐसा नहीं होता। यदि कोई जीव ब्रह्मचर्य की बाड़ को तोड़कर स्त्री का संग—परिचय करे, उसके साथ एकान्तवास करे तथापि ऐसा कहे कि 'मैं तो ब्रह्मचर्य की परीक्षा करता हूँ। तो ऐसा जीव पराश्रय की रुचि से संसार में भ्रमण करेगा। हे भाई! तुझे स्त्री का परिचय करने की आकांक्षा हुई वहीं पर तेरी परीक्षा होगई कि तुझे ब्रह्मचर्य का यथार्थ रंग नहीं है। तुझे यदि परीक्षा करना है तो स्वभाव के आश्रय से कितना वीतरागभाव स्थिर होता है—उसपर से परीक्षा कर।

यहाँपर तो मुनिओं के, सम्यक्दर्शनपूर्वक कैसा उत्तमब्रह्मचर्य होता है उसकी उत्कृष्ट बात है। वास्तव में तो वीतरागभाव ही धर्म है, किन्तु उसके पूर्व निमित्तरूप से ब्रह्मचर्य का शुभराग था। उसे छोड़कर वीतरागभाव हुआ—ऐसा बतलाने के लिये उस वीत-रागभाव को उत्तमब्रह्मचर्य धर्म कहा है। मुनिराज के जब शुद्धो-पयोग में रमणता न रहे और विकल्प उठे तब वे ब्रह्मचर्यादि पंच-महाव्रत पालते हैं; उससमय कदाचित् स्त्री की ओर लक्ष्य जाये तो अशुभवृत्ति न होकर उसके प्रति माता बहिन अथवा पुत्री के समान विकल्प होता है और उस शुभविकल्प का भी निषेध प्रवर्तमान रहता है। इससे वहाँपर भी उत्तमब्रह्मचर्य है। स्त्री आदि के परलक्ष्य से जो शुभविकल्प उठा है वह तो राग है, वह परमार्थ से ब्रह्मचर्य नहीं है, किन्तु त्रैकालिक शुद्धस्वभाव की रुचि के बल से वह स्त्री आदि की ओर के विकल्प की रुचि को मिटाता हुआ विकल्प हुआ है इससे उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। और उस विकल्प को भी छेदकर साक्षात् वीतरागभाव प्रगट करना सो परमार्थ से उत्तमब्रह्मचर्य धर्म है, वह केवलज्ञान का साक्षात् कारण है।

जिसने स्वभावदृष्टि को तोड़कर स्त्री में ही सुख माना है उसे अनन्त-संसार का भ्रमण होता है, और उसके लिये स्त्री ही संसार का कारण है—ऐसा कहा जाता है। भरतचक्रवर्ती गृहस्थदशा में क्षायिकसम्यग्दृष्टि थे और हजारों रानियाँ थीं, तथापि उसमें स्वप्न में भी सुख की मान्यता नहीं थी; उसीप्रकार उसमें जो राग था उसे भी अपना स्वरूप नहीं मानते थे। इससे स्वभावदृष्टि के बल से उस राग को छेदकर त्यागी होकर उसी भव में केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त की।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध है—ऐसी जो दो पदार्थों के सम्बन्ध की बुद्धि है वह व्यभिचारिणी बुद्धि है; वह मिथ्यात्व है, वही अब्रह्मचर्य है और वही वास्तव में संसार-परिभ्रमण का आधार है। जिसे एक भी अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध की वृत्ति है उसे वास्तव में समस्त पदार्थों में एकत्वबुद्धि है, उसे भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञान के बिना ब्रह्मचर्य धर्म नहीं होता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि स्व-पर का भेदज्ञान करके स्त्री आदि में किंचित् भी सुख नहीं है—ऐसा मानकर ब्रह्मचारी-सन्त एवं मुमुक्षुओं को स्त्री आदि के सन्मुख नहीं देखना चाहिये, उनका परिचय, संग नहीं करना चाहिये; सर्व परद्रव्यों के ओर की वृत्ति को तोड़कर स्वभाव में स्थिरता का अभ्यास करना चाहिये।

अब आचार्यदेव वीतरागी ब्रह्मचारी पुरुषों की महिमा बतलाते हैं:—

(मालिनी)

अविरतमि[illegible] ताव[illegible]ण्यभाजो मनुष्या
[illegible] कामिनीनां वसन्ति ।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदंघ्री
[illegible]स्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति ॥ १०५ ॥

आचार्यदेव पुण्य और पवित्रता को भिन्न करके समझाते हैं। इस संसार में जिनके ऐसा सुन्दर रूपादि है कि जिसे स्त्रियाँ चाहें वे पुण्यवंत हैं; किन्तु ऐसे पुण्यवंत, इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि भी, जिनके हृदय में स्त्री सम्बन्धी किंचित्मात्र विकल्प नहीं है—ऐसे वीतरागी सन्तों के चरण में मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं। इसलिये पुण्य की अपेक्षा पवित्रता ही श्रेष्ठ है। इससे जीवों को पुण्य की और उसके फल की—स्त्री आदि की रुचि में न रुककर आत्मा के वीतरागी स्वभाव की रुचि एवं महिमा करना चाहिये।

जिस पुरुष का शरीर रूपवान है उसका स्त्री के हृदय में वास वह पुण्यवन्त है, किन्तु ऐसे पुण्यवन्त भी पवित्रता के पास नतमस्तक होजाते हैं। जिनके हृदय में स्वप्न में भी स्त्रियाँ वास नहीं करतीं, स्त्री सम्बन्धी विकल्प भी जिनके नहीं है, अर्थात् आत्मभान-पूर्वक स्त्री आदि का राग छोड़कर जो वीतरागी मुनि हुए हैं वे ही पुरुष इस जगत में धन्य हैं। जिन्हें स्त्रियां चाहती हैं-ऐसे इन्द्र और चक्रवर्ती आदि महानपुरुष भी उन पवित्र पुरुषों को नमस्कार करते हैं, उनका स्तवन करते हैं जिनके हृदय में से स्त्रियों का वास हट गया है। स्त्रियाँ पुण्यवन्त को चाहती हैं और पुण्यवन्त धर्मात्मा सन्त को नमस्कार करते हैं; इसलिये पुण्य की अपेक्षा पवित्रता का—धर्म का पुरुषार्थ उच्च है।

इन्द्राणी इन्द्र को चाहती है, पद्मिनी को (स्त्रीरत्न) चक्रवर्ती को चाहती है—इसप्रकार स्त्रियाँ पुण्यवन्त को चाहती हैं, और पुण्यवन्त को जगत के जीव श्रेष्ठ मानते हैं; किन्तु वे चक्रवर्ती आदि पुण्यवन्त पुरुष भी मुनिराज आदि पवित्र पुरुषों को नतमस्तक होते हैं, इसलिये पवित्रता ही श्रेष्ठ है, पवित्रता चाहने योग्य है; पुण्य नहीं।

पूर्व का पुण्य श्रेष्ठ है, या वर्तमान में स्वभाव का आश्रय करके पुण्य का विकल्प तोड़दिया है वह श्रेष्ठ है? यहाँपर आचार्य

देव ऐसा बतलाते हैं कि जिसने आत्मस्वभाव का आश्रय करने का पुरुषार्थ किया है वह श्रेष्ठ है; पुण्य करके स्त्रीआदि को प्रिय लगे-उसमें आत्मा की श्रेष्ठता नहीं है, वह आदरणीय नहीं है। पूर्वपुण्य के फलरूप स्त्री आदि की प्राप्ति हुई उनके राग में रुकना अच्छा नहीं है, किन्तु पुण्य को तृणतुल्य जानकर तथा स्त्री के प्रति राग को छोड़कर स्वभाव के आश्रय से वीतरागता प्रगट करना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये हे जीव! तू स्त्री आदि संयोगों को, वैसे ही पुण्य की प्रशंसा छोड़कर स्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता का पुरुषार्थ कर, वह धर्म है।

चैतन्यरूपी जहाज में चढ़कर जो संसार-समुद्र का पार पारहे हैं ऐसे सन्तों के चरणों में इन्द्र–चक्रवर्ति भी मस्तक झुकाते हैं, उन सन्तों के स्वभाव की लीनता से पर की ओर का राग ही नष्ट होगया है; उसी का नाम उत्तमब्रह्मचर्य है। परलक्ष्य से ब्रह्मचर्य का शुभभाव तो पुण्यबन्ध का कारण है, वह उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म नहीं है।

पुण्य और उसका फल तो नाशवान हैं और वर्तमान में भी आकुलता-दुःख के कारण हैं। पुण्यरहित आत्मस्वभाव ध्रुव है, उसके आश्रय से जो ब्रह्मचर्य प्रगट हुआ वही प्रशंसनीय है, पुण्य प्रशंसनीय नहीं है। जो ब्रह्मानन्द-आत्मा के ज्ञानस्वरूप का आनन्द है, उसका सेवन करके मुनिजन मोक्षरूपी स्त्री की साधना करते हैं। पुण्यवन्त के तो जितने समयतक पुण्य रहेगा उतने ही समयतक वह स्त्री को प्रिय लगेगा, किन्तु चैतन्य के आश्रय से जिसने ब्रह्मचर्य प्रगट किया है, उसे सदैव मोक्षरूपी स्त्री की प्राप्ति रहती है और इन्द्रादिक सर्वोत्तम जीव भी उसे नमस्कार करते हैं। इसलिये वही भव्यजीवों को आदरणीय है। आत्मस्वभाव में सुख है तथा स्त्री आदि किसी भी विषय में सुख नहीं है–प्रथम ही ऐसी यथार्थ श्रद्धा एवं ज्ञान करना सो धर्म है।

यहाँपर उत्तमक्षमादि दस धर्मों का वर्णन करके आचार्यदेव अब उन धर्मों की महिमा बतलाते हैं:—

(स्रग्धरा)

वैराग्यत्यागदारुकृतरुचिरचना चारु निश्रेणिका यैः
पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः ।
योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमिष्येतु केषाम्
नोधर्मेषुत्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयमानेषुहृष्टिः ॥ १०६ ॥

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि–जो त्रिलोक के स्वामी इन्द्रों से भी वन्दनीक हैं–ऐसे इन दस उत्तमधर्मों को धारण करने में किसे हर्ष न होगा ? समस्त मोक्षार्थी जीव उनका पालन सहर्ष करते हैं । यह दस धर्म मुनिदशा में होते हैं । मुनिदशा मोक्षमहल की सीढ़ी है, उसके एक ओर वैराग्यरूपी और दूसरी ओर त्यागरूपी सुन्दर-सुदृढ़ काष्ठ लगे हुए हैं तथा दस धर्मरूपी दस विशाल सीढ़ियाँ हैं । मोक्षमहल में चढ़ने की भावना वाले पुरुषों को ऐसी सीढ़ियाँ चढ़ने योग्य हैं । अर्थात् इन दस धर्मों का पालन करने से जीव मुक्ति प्राप्त करता है । ऐसे उत्तम दसधर्मों के प्रति किस मोक्षार्थी को उल्लास न होगा ?

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! वीतरागी दसधर्मों का ऐसा सुन्दर वर्णन सुनकर किसे व्रतादि की भावना जागृत नहीं होगी ? रागरहित चैतन्यस्वभाव के आश्रय की भावना किसे नहीं होगी ? आचार्यदेव स्वतः सावधानीपूर्वक दसधर्मों का पालन करते हैं इससे कहते हैं कि इन दसधर्मों को सुनकर समस्त संसार को हर्ष होगा । सभी जीवों को यह धर्म सुनने से निश्चल सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक उत्तम त्याग-वैराग्यादि की आकांक्षा होगी । ऐसे मांगलिकपूर्वक यह अधिकार पूर्ण होता है ।

दशलक्षणधर्म के व्याख्यान पूर्ण हुए ।



धर्म का स्वरूप

"दंसण मूलो धम्मो"–धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यक्-दर्शन ही प्रथम धर्म है और आत्मा के ज्ञान–चारित्रादि समस्त धर्मों का मूल है। सम्यग्दर्शन के बिना भगवान ने धर्म नहीं कहा है। सम्यग्दर्शन इस जगत में सर्वश्रेष्ठ कल्याणकारी वस्तु है। उसकी महिमा अपूर्व है।

हे भव्य! अनन्तकाल में आत्मस्वरूप समझने का अवसर आया है, यदि सम्यग्दर्शन.के द्वारा यथार्थ नहीं समझा तो कोई तुझे शरणभूत नहीं है। पुण्य-पापरहित चैतन्य स्वभाव की प्रतीति के बिना तेरे त्यागादि सब व्यर्थ हैं, उनसे संसार के दुःखों का अन्त नहीं आयेगा।

आत्मस्वभाव की यथावत् प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। और वह सम्यग्दर्शन ही अहिंसा, सत्य इत्यादि समस्त धर्मों का मूल है। वस्तुस्वभाव की प्रतीति द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी भी जीव के अहिंसा, सत्य इत्यादि धर्म कदापि नहीं हो-सकते, किन्तु अज्ञानता से मिथ्यात्वरूप महाहिंसा एवं असत्य का ही निरन्तर सेवन होता है। आत्मा को समझे बिना जो लौकिक सत्य है वह भी परमार्थ से हिंसा ही है। परजीवों का मैं कुछ कर सकता हूँ–ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही सर्व पापों का मूल है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन नहीं होता उसके अन्य कोई भी धर्म नहीं होता।

सर्वज्ञदेव के उपदेशित धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञदेव की परम्परा से जो जिनमत प्रवर्तमान है उसमें धर्म के स्वरूप का यथार्थ निरूपण है; तथा निश्चय और व्यवहार–ऐसे दो प्रकार से धर्म का कथन किया है। धर्म की प्ररूपणा चार प्रकार से है:— (१) वस्तुस्वभावरूप धर्म (२) उत्तमक्षमादिक दसप्रकार धर्म (३) सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्म और (४) जीव रक्षारूप धर्म। यदि वहाँ निश्चय से विचार किया जाये तो इन चारों प्रकारों में शुद्ध चेतनारूप धर्म एक ही प्रकार का है, वह समझाया जारहा है:—

(१) वस्तुस्वभाव सो धर्म:—जो दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है वह जीववस्तु का परमार्थस्वभाव है, जब उस चेतना के परिणाम सर्व विकाररहित शुद्धचेतनारूप परिणमित हों तब वह धर्म है। इसप्रकार वस्तु का स्वभाव सो धर्म–ऐसा कहने से शुद्धचेतनारूप धर्म सिद्ध होता है।

यहाँपर शुद्धचेतनपरिणाम को ही धर्म कहा है। जितनी परजीव की दया, दान, पूजा, व्रत, भक्ति की शुभ अथवा हिंसादि की अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं वह सब निश्चय से अधर्मभाव है। देहादि की क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता, किन्तु शुभपरिणाम करे वह भी धर्म नहीं है। धर्म तो शुद्धचेतनामय है, इससे पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह मेरा कर्त्तव्य नहीं है, किन्तु उन विकार भावों का भी मैं ज्ञाता ही हूँ, ज्ञाता–दृष्टापना ही मेरा स्वरूप है–ऐसी प्रतीतिपूर्वक ज्ञान–दर्शनमय चेतना की जो शुद्धपर्याय है वही 'धर्म' है। धर्म द्रव्य अथवा गुण नहीं किन्तु शुद्धपर्याय है। धर्म के चार प्रकार के कथन में शुद्धपर्याय का वास्तव में एक ही प्रकार है। जितने अंश में चेतना निर्विकाररूप से परिणमित हो उतने अंश में धर्म है और जितने अंश में पुण्य-पाप के विकाररूप परिणमित हो उतना ही अधर्म है। जो शरीर की क्रिया में धर्म माने वह तो बिल्कुल बहिर्दृष्टि है–मिथ्यादृष्टि है। यहाँ पर तो पुण्य में धर्म

माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य और देह की क्रिया मेरा स्वरूप नहीं है, ज्ञाता-दृष्टापन ही मेरा वास्तविक स्वरूप है—ऐसा जानने वाले ज्ञानी के भी निम्नदशा में पुण्य-पाप के परिणाम होते अवश्य हैं, किन्तु वे ऐसा जानते हैं कि पुण्य-पाप के विकार से रहित शुद्धचेतना परिणति में जितनी स्थिरता करूं उतना ही धर्म है, और चेतना की उन्मुखता जितनी बहिर्मुख हो—वह सब अधर्म भाव है। जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई वही धर्म है। वास्तव में तो धर्म पर्याय है, किन्तु शुद्धपर्याय का द्रव्य के साथ अभेदत्व होने से अभेदरूप से वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा है। प्रथम पुण्य-पाप रहित स्वभाव की प्रतीति होनेपर जब सम्यग्दर्शन धर्म प्रगट होता है तब चेतना के परिणाम अंशतः शुद्ध और अंशतः अशुद्ध होते हैं। ज्ञानी शुद्धपरिणाम में ही धर्म समझते हैं, इससे वे अशुद्ध परिणाम का स्वभाव में स्वीकार नहीं करते; इसीसे पुण्य-पाप रहित स्वभाव की स्थिरता द्वारा क्रमशः चारित्र की पूर्णता करते हैं। जब पूर्ण शुद्ध चेतनापरिणाम प्रगट होते हैं उस समय केवलज्ञान प्रगट होता है और पुण्य-पाप का अभाव होता है।

"शुद्धचेतनारूप धर्म" कहने से ही यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान–दर्शन के अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ नहीं कर सकता। ज्ञान–दर्शन के अतिरिक्त दूसरा जो कुछ कर्तृत्व मानता है वह अधर्मभाव है।

मात्र ज्ञान-दर्शनमय स्वभाव को माना उसमें पर का करने की बात ही कहां आई? अरे, ज्ञान में शुभविकल्प भी कहां आया? चेतना का स्वभाव ही विकल्परहित ज्ञाता-दृष्टा है, और वह विकार-रहित चेतना ही धर्म है।

(२) उत्तमक्षमादि दसप्रकारके धर्मः—आत्मा क्रोधादि कषाय-रूप परिणमित न हो और अपने स्वभाव में स्थिर रहे, वही उत्तमक्षमादिरूप धर्म है; इसप्रकार उत्तमक्षमादिरूप धर्म कहने से भी शुद्धचेतना के परिणामरूप धर्म ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसमें चेतना के परिणामों

को पुण्य-पाप से छुड़ाकर ज्ञान स्वभाव में ही स्थिर करना कहा है। मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, मेरे ज्ञान में कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट नहीं है, मेरे ज्ञान के लिये कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है, दुर्जन या सज्जन नहीं है-ऐसे भानपूर्वक स्वरूपकी स्थिरता हो वहीं उत्तमक्षमा होसकती है। 'अपने को सहन करना सीखना चाहिये' इसप्रकार परद्रव्यों को सहन करना माने और स्वभाव के भान बिना क्षमा रखे-वह उत्तमक्षमा नहीं है। मेरा स्वभाव जानने का है, मेरा ज्ञान सर्व पदार्थों को समरूप से जाननेवाला है, जानने में ऐसी वृत्ति करना कि 'यह अच्छा है और यह बुरा है'-वह ज्ञान का स्वरूप नहीं है। ऐसे भानपूर्वक मान, अपमान की वृत्ति को तोड़कर स्वरूप में स्थिर होना ही शुद्धचेतनारूप धर्म है। यहाँपर मुख्यतः मुनि के लक्ष्य से बात की है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी अंशतः शुद्ध-चेतना होती है, प्रतीतरूप से उनके समस्त द्रव्यों के प्रति क्षमा प्रवर्तमान है। परलक्ष्य से क्रोध या क्षमा की अल्पवृत्ति होजाये उसे ज्ञानी अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करते, इससे उनके निरन्तर अंशतः उत्तमक्षमारूप धर्म प्रवर्तमान रहता है। आत्मस्वभाव के भान बिना द्रव्यलिंगी जैन निर्ग्रंथ मुनि हो और उसके शरीर को जीवित जला डाले तब भी क्रोध की वृत्ति न करे-तथापि उसके उत्तमक्षमा नहीं है, क्योंकि क्षमा की शुभवृत्ति को वह अपना स्वरूप मानता है, किन्तु उसे शुद्धचेतना परिणामों की खबर नहीं है। शुभ-परिणामों से भी शुद्धचेतना भिन्न है-ऐसे भान बिना धर्म नहीं होसकता। ज्ञानस्वरूप में किसी भी राग का अंश नहीं है; अशुभ या शुभ दोनोंप्रकार के रागरहित शुद्धचेतना ही धर्म है।

शुभभाव विकार हैं उन्हें जो धर्म में सहायक माने उसके मिथ्यात्व का महापाप है, पुण्यभाव में भी लोभकषाय की मुख्यता है, वह पुण्यभाव अशुद्ध चेतना है, शुद्ध चेतनारूप धर्म तो एक ही प्रकार का है उसमें शुभाशुभ विकल्पों को भी अवकाश नहीं है।

इसप्रकार रूप वस्तुत्व धर्म और उत्तमक्षमादिरूप धर्म–उन दोनों में शुद्धचेतना के परिणामरूप एक ही प्रकार सिद्ध हुआ।

(३) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्मः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–इन तीनों में मात्र शुद्धचेतना के ही परिणाम हैं, इससे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भी शुद्धचेतनारूप धर्म ही सिद्ध होता है। शुद्धज्ञान–चेतना में पुण्य-पाप नहीं हैं, शरीरादि की क्रिया नहीं है, मात्र शुद्धस्वभाव है, वही धर्म है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहने से भी शुद्ध चैतन्यत्व सिद्ध हुआ।

(५) जीवदयारूप धर्मः—'जीवदया' के नाम से लोग शुभ-राग में धर्म मान रहे हैं, किन्तु जीवदया के यथार्थस्वरूप को नहीं समझते। क्रोधादि कषायों के वश होकर अपनी, वैसे ही परजीव की हिंसा का भाव न करना सो जीव दया है। सबसे महान क्रोध मिथ्यात्व है और वही वास्तविक जीवहिंसा है। मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कभी भी जीवहिंसा नहीं रुक सकती। स्व-जीव की हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है, और जब स्वतः क्रोधादि द्वारा स्व-जीव की हिंसा नहीं की तब क्रोध का अभाव होने के कारण परजीव को मारने का भाव भी न आया, इससे परजीव की दया भी आगई। किन्तु स्वजीव की दया कब होसकती है? जो जीव पुण्य से धर्म मानता है वह विकारभाव के द्वारा स्वभाव की हिंसा करता है; मेरा शुद्धस्वरूप पुण्य-पाप रहित है–ऐसी पहिचान करने के पश्चात् दया की शुभवृत्ति को भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर होगया और शुद्ध ज्ञान-चेतना के अनुभव में लीन हुआ सो ही जीवदया धर्म है। इसलिये इसमें भी जो चेतना के शुद्ध परिणाम हैं वही धर्म है–ऐसा आया है। परजीव को वास्तव में न तो मार सकता है न जीवित कर सकता है, मात्र भाव करता है। किसी जीव को दुःख न देना, उसमें स्वतः भी सम्मिलित है; अब, स्वतः को भी दुःखी न करना सो यथार्थ दया है। अशुभ परिणामों के

समय स्वयं तीव्र दुःखी होता है और दयादि के शुभपरिणामों के समय भी जीव को आकुलता का ही वेदन होने से वह दुःखी है, इससे अशुभ और शुभ—दोनोंभावों से जीव को बचाना अर्थात् मात्र शुभाशुभरहित ज्ञानस्वभावरूप दशा करना, उतनी ही जीवदया है। जो जीव शुद्धज्ञान-चेतना द्वारा स्वरूप में एकाग्र हुआ, उसजीव के अशुभभाव होते ही नहीं, इसलिये वहाँ स्वयं ही परजीव की दया का पालन होता है।

यदि परजीव की दया पालन करने के शुभराग में धर्म हो तो सिद्धदशा में भी परजीव की दया का राग होना चाहिये ? किन्तु शुभराग धर्म नहीं है; वह अधर्म है, हिंसा है।

प्रथम् सम्यग्दर्शन द्वारा स्वभाव को पहिचानने पर श्रद्धा की अपेक्षा से अहिंसकत्व प्रगट होता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं उन्हें, अपने स्वभाव का नहीं मानते; इसप्रकार मान्यता में अपने स्वभाव को पुण्य-पाप से बचाकर रखते हैं—इससे उनके सच्ची जीवदया है। अज्ञानी जीव अपने को क्षणिक पुण्य-पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकाररहित स्वभाव का नाश करता है, वही हिंसा है।

पुनश्च "जीवदया"—ऐसा कहा जाता है। कहीं 'शरीरदया' नहीं कहा जाता; क्योंकि जो शरीर है वह जीव नहीं है। लोग शरीर की क्रिया से माप करते हैं वह ठीक नहीं है। जीव तो शरीर से भिन्न निरन्तर चैतन्यस्वरूप है, उसे श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता में ही स्थिर रखना और विकार में न जाने देना सो जीवरक्षा है।

'परजीव की रक्षा करूँ'—ऐसी दया की जो वृत्ति है सो भी परमार्थ से जीवहिंसा ही है—ऐसा प्रथम श्रद्धा में स्वीकार करना चाहिये और ऐसी मान्यता होने के पश्चात् भी अस्थिरता के कारण शुभविकल्प आयें किन्तु वह धर्म नहीं है।

मिथ्यादृष्टि जीव जीवरक्षा के शुभभाव करता हो तब वह ऐसा मानता है कि मैं परजीव को बचा सकता हूँ, तथा इस शुभ-भाव से मुझे धर्म होगा। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव यदि युद्धादि कर रहा हो और उसके अशुभपरिणाम हों किन्तु अन्तरंग में भान होता है कि यह युद्ध की—देह की क्रिया मेरी नहीं है, अशुभभाव मेरे पुरुषार्थ के दोष से होते हैं उतनी हिंसा है, किन्तु वास्तव में वह मेरा यथार्थस्वरूप नहीं है। उससमय इन दोनों जीवों में से मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्तहिंसा प्रवर्तमान है और सम्यग्दृष्टि जीव के अल्पहिंसा है। अरे ! श्रद्धा की अपेक्षा से तो युद्ध के समय भी वह अहिंसक है क्योंकि उसके अंशतः शुद्ध चेतनापरिणाम प्रवर्तमान हैं। जितने अंश में शुद्ध चेतनापरिणाम प्रवर्तमान हो उतने अंश में युद्ध के समय भी जीवदया वर्त रही है। और मिथ्यादृष्टि जीव के किंचित् भी शुद्ध चेतनापरिणाम नहीं हैं इससे उसे जीवरक्षा के भाव के समय भी जीवहिंसा ही है, यह माप तो अन्तरंग शुद्ध चेतना परिणामों से है; शरीर की क्रिया तो दूर रही, किन्तु पुण्य-पाप के भावों पर से भी जीवदयारूपी धर्म का यथार्थ माप नहीं होता।

परमार्थ धर्म अर्थात् निश्चय धर्म—सच्चा धर्म, तो एक ही प्रकार का है; फिर उसे जीवदया कहो अथवा वस्तुस्वभाव कहो; उसमें मात्र शुद्धचेतनापरिणाम ही धर्म है। 'शुद्ध चेतना को धर्म कहते हैं और कभी-कभी शुभ को भी धर्म कहते हैं'—ऐसा स्वरूप निश्चय धर्म का नहीं है। निश्चय धर्म तो एक ही प्रकार से है।

'मैं आत्मा कौन हूँ' उसके भान बिना शुद्धचेतना कहाँ से लायेगा ? बाह्य में जीव मरें या जियें, उनकी संख्यापर से हिंसा अथवा दया का वास्तविक माप नहीं होता। सम्यग्दर्शन होनेपर अहिंसा का प्रारम्भ होता है, तथापि सम्यग्दृष्टि के भी अस्थिरता के

कारण जितनी वृत्ति उठे उतनी चारित्र की हिंसा है; किन्तु जो आत्मभान प्रवर्तमान है उतनी जीवदया है। इसप्रकार साधक के अंशत: अहिंसा और अंशत: हिंसा—दोनों साथ में ही होती हैं। अज्ञानियों के एकान्त जीवहिंसा ही है; वीतरागी ज्ञानी के सम्पूर्ण अहिंसा है। वस्तुस्वभावरूप जैनशासन में त्रिकाल, धर्म का ऐसा ही स्वरूप है।

अपने भावों में अनन्त परद्रव्यों का स्वामित्व-अभिमान न होने देना और अपने ज्ञानमात्र स्वरूप को पुण्य-पाप से भिन्नरूप श्रद्धा में स्थिर रखना—ऐसी यथार्थ जीवदया है, उसका जगत को माहात्म्य नहीं है और शुभ का माहात्म्य होता है। जिसने पुण्य के विकल्प से अपने को लाभ माना है उसने पुण्य को अपना स्वरूप ही माना है; क्योंकि जिसे अपना स्वरूप मानेगा उसीसे अपने को लाभ मानता है; और जिस जीव ने पुण्य को अपना स्वरूप माना-उसने जगत के समस्त आत्माओं के स्वभाव को भी पुण्यरूप माना। इसप्रकार जगत के समस्त आत्माओं को विकारी माना है—इससे उसने अपनी मान्यता में विश्व के सर्व जीवों की हिंसा की है, यह महान जीवहिंसा का पाप जगत को ज्ञात नहीं होता।

हिंसादि के अशुभभाव करने की बात ही नहीं होती, अशुभभावों में तो तीव्र आकुलता है। किन्तु जो शुभभाव होते हैं उनमें भी आकुलता ही है। उन दोनों आकुलताओं में हिंसा है; उससे रहित निराकुलता और ज्ञान-चेतना का जितना अनुभव है उतनी ही जीवरक्षा है। अपने शुद्ध जीवपरिणाम की रक्षा करना, उसका हनन न होने देना सो ही शुद्ध चेतनापरिणामरूप धर्म है। शुद्ध चेतनापरिणामके बिना दया अथवा दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं क्षमा इत्यादि कोई धर्म सच्चा होता ही नहीं।

'परजीव को मैं बचा सकता हूँ और वैसा राग अपना कर्त्तव्य है'—यह मान्यता मिथ्या है। परजीव के बचाने का भाव तो विकार

है, क्या विकार करना आत्मा का कर्त्तव्य है ? ज्ञानी तो जानते हैं कि मात्र ज्ञातारूप से स्वभाव में स्थिर रहना हमारा कर्त्तव्य है, जितना मैं अपने ज्ञातास्वभावरूप से स्थिर रहूं उतना धर्म है, और ज्ञातापने के अतिरिक्त अन्य जिस वृत्ति का उत्थान होता है वह मेरा कर्त्तव्य नहीं है; इसप्रकार ज्ञानी जीव ज्ञाता-दृष्टारूप से अपने चैतन्यपरिणाम को स्थिर रखता है, वही धर्म है।

वस्तु का स्वभाव सो धर्म, उत्तमक्षमादि दसप्रकार धम, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म, और जीवरक्षा धर्म-इन चार प्रकारों की प्ररूपणा में शुद्ध चेतना परिणाममय एक ही प्रकार का धर्म है—ऐसा बताया है। निश्चय धर्म एक ही प्रकार का है।



श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

द्वारा प्रकाशित

ग्रंथों की सूची

स-[illegible]यसार

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य देव विरचित

पृष्ठ ६३४ * छप रहा है

यह महान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, जिसमें ज्ञानी अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेद विज्ञान, नव तत्त्व, कर्ता-कर्म, सर्व विशुद्ध ज्ञान, अनेकांत, ४७ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्य साधक आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर श्री अ[illegible]तचन्द्राचार्य कृत सर्वोत्तम टीका है। अत्यन्त अप्रतिबुद्ध जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद दूसरी आवृत्ति, प्रेस में छप रहा है।

प्रव[illegible]नसार

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य देव विरचित

पृष्ठ ३७७ * छप रहा है

यह शास्त्र भी महान ज्ञान निधि है, जिसमें सम्य[illegible]ज्ञान-दर्शन-चारित्र अधिकार द्वारा वस्तु तत्त्व का विज्ञान विस्तार सहित बतलाया है, यह भी जिनागम में सुप्रसिद्ध शास्त्र है। श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद, दूसरी आवृत्ति, प्रेस में छप रहा है।



पंचास्तिकाय संग्रह

[श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य देव कृत]

पृष्ठ ३१५ मूल्य ४–५०

श्री सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित यह शास्त्र संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद सहित है। सर्वज्ञ वीतराग कथित छह द्रव्य नव पदार्थ, सात तत्त्व, मोक्षमार्ग तथा निश्चय–व्यवहार का स्वरूप दर्शाने वाला सुगम और उत्तम शैली का शास्त्र है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पांच साल तक अति परिश्रम द्वारा सं० टीका का अक्षरशः अनुवाद प्रथम बार ही तैय्यार हुआ है। टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालने वाली विस्तृत फुटनोट भी दी गई है। सर्व प्रकार से मनोज्ञ महान ग्रन्थ होने पर भी मूल्य ४–५० व थोक लेने पर कमीशन २५ दिया जावेगा।

दश लक्षण धर्म (प्रवचन)

पृष्ठ ६५ दूसरी आवृत्ति मूल्य ०–५३

जिसमें उत्तम क्षमादि धर्मों के ऊपर विवेचन है। निश्चय-व्यवहार धर्म कब और कैसे होता है ? यथार्थ भाव भासन पूर्वक आत्मिक शांति-स्वतंत्रता का स्वाद लेनेके लिये इसे अवश्य पढ़िये।

छहढाला

पृष्ठ १६१ ❀ मूल्य ०–८१ (स्व० दौलतरामजी कृत)

जिसमें रोचक ढंग से आत्महित का स्वरूप बताया है और गागर में सागर समान जैन तत्वज्ञान भरा है। बालक को भी समझने में सुगम हो, ऐसी शैली है। शास्त्र मनन करने योग्य है और जिज्ञासुओं में बांटने योग्य है। थोक लेने पर–कमीशन २५ प्रतिशत।

(सेठी ग्रन्थमाला से प्रकाशित)

समयसार प्रवचन भाग १

[पृष्ठ ४८८ ❋ मूल्य ४-७५]

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय-व्यवहार की संधि पूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर २५% कमीशन दिया जावेगा।

समयसार प्रवचन भाग २

पृष्ठ ५२० ❋ मूल्य ५-२५

समयसारजी शास्त्र की गाथा १३ से ३३ तक के प्रवचन इसमें दिये गये हैं।

समयसार प्रवचन भाग ३

पृष्ठ ५०० ❋ मूल्य ४-५०

समयसारजी शास्त्र की गाथा ३४ से ६८ तक के प्रवचन इसमें दिये गये हैं। समयसारजी मूल ग्रन्थ तथा सं० टीका का अर्थ समझने के लिये ये तीनों भाग अवश्य पढ़ना चाहिये।

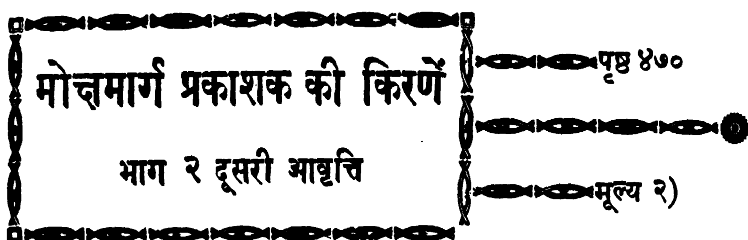
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें

भाग १ तीसरी आवृत्ति

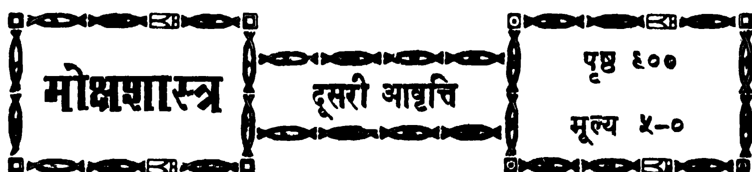
पृष्ठ २२०

मूल्य १)

जिसमें अध्याय एक से पांच तक के ऊपर पू० कानजी स्वामी के प्रवचनों का संग्रह है। प्रथम धर्म की शुरुआत कैसे करें, यह समझने के लिये अत्यन्त सुगम पढ़ने योग्य है।



जिसमें अध्याय सात के ऊपर पू० कानजी स्वामी के प्रवचनोंका संग्रह है; निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी का क्या स्वरूप है, तथा उसकी प्रवृत्ति किस प्रकार की है। नव तत्त्व के सम्बन्ध में किस प्रकार की भूल अज्ञानी करते हैं तथा उसे सम्यग्ज्ञानादि की प्रवृत्ति में किस प्रकार की अयथार्थता रह जाती है, उसका विशद विवेचन है। सूक्ष्म और स्थूल गलत मान्यतायें आत्म हित में बड़ी बाधक हैं इसलिये उसे जानकर आत्म हित रूप सच्चे प्रयोजन के लिये यह ग्रन्थ एकाग्रचित्तसे पढ़ने योग्य है।



इसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि का विस्तृत निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये गये हैं, जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय-प्रमाण द्वारा सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं। अच्छी तरह संशोधित और कुछ प्रकरण में खास प्रयोजनभूत विवेचन भी है। यह शास्त्र महत्व पूर्ण होने से तत्त्वज्ञान के प्रेमियों को बार बार अवश्य पढ़ने योग्य है।



जिसमें अति सुन्दर वैज्ञानिक ढंग से तत्त्वज्ञान भरा है। ख शांति का राह (उपाय) सम्यग्दर्शन से शुरू होता है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझे बिना संसार का परिभ्रमण कभी नहीं मिटता। अपूर्व दुर्लभ वस्तु आत्म साक्षात्कार निर्विकल्प अनुभव कैसे हो उसका बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन है। सर्वज्ञ वीतराग कथित छहों द्रव्य को युक्ति दृष्टांत द्वारा सिद्ध करके स्पष्टता से बुद्धिगम्य बनाया है। सुशिक्षित जिज्ञासुओं में भी खास पढ़ने के लिये बाँटने योग्य है। (सम्यग्दर्शन भाग २ गुजराती भाषा में है)।

ज्ञानस्वभाव–ज्ञेय स्वभाव

[पृष्ठ ३६० ❀ मूल्य २–५०]   [सिर्फ १५ पुस्तक शेष है]

इसमें क्रमबद्ध पर्याय तथा पुरुषार्थ के स्वरूप का विस्तार पूर्वक स्पष्टीकरण है। सम्यक् अनेकांत सहित सम्यक् नियतवाद, जिसमें पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पंच समवाय आदि आजाते हैं उसका विवेचन है, प्रवचनसार गाथा ६६ ऊपर के प्रवचनों का सार और ४७ नयों में से नियत, अनियत, काल, अकाल नय का वर्णन भी है।

मुक्ति का मार्ग

पृष्ठ १०३ ❀ मूल्य ०–५०   [चौथी आवृत्ति]

सच्चे सुख रूप मोक्षमार्ग में प्रवेश करने के लिये प्रथम किस २ बात का ज्ञान जरूरी है उसका मुख्य रूप से वर्णन है। थोक खरीद कर प्रचार कीजिये।

भेदविज्ञानसार (प्रवचन)

पृष्ठ २७२ ❋ मूल्य २)

इसमें समयसारजी सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार में से गाथा ३९० से ४०४ तक के ऊपर खास सुगम व सुन्दर प्रवचनों का संग्रह है।

मूल में भूल

पृष्ठ १४० ❋ मूल्य ०–७५ [दूसरी आवृत्ति]

भैया भगवतीदासजी और कविवर बनारसीदासजी कृत निमित्त-उपादान के दोहों पर सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचन। जिसमें उपादानरूप निज शक्ति के अनुसार शुद्धरूप या अशुद्धरूप सभी परिणमन अपनी अपनी स्वतन्त्रता से होते हैं, अन्य तो निमित्रमात्र-व्यवहार-मात्र कारण हैं, ऐसा न मानकर निमित्त के अनुसार कार्य मानना–मूलमें भूल है–यह स्पष्ट किया है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है ?

पृष्ठ १८ दूसरी आवृत्ति मूल्य ०–१५

इस पुस्तिका में निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का वर्णन है।

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

भाग १-२-३ प्रत्येक का मूल्य ०–६५ [सेठी ग्रन्थमाला से प्रकाशित]
(पृष्ठ सं० भाग १-१२९, भाग २-१३७, भाग ३-१३८)

जिसमें शास्त्राधारपूर्वक उत्तम प्रकार से जैन सिद्धान्त का सत्य-स्वरूप समझने के लिये प्रश्नोत्तर दिये गये हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय, अभाव, कर्ता–कर्मादि छह कारक, उपादान निमित्त तथा निमित्त नैमित्तिक, सात तत्त्व, प्रमाण-नय-निक्षेप, अनेकान्त और स्याद्वाद, मोक्षमार्ग, जीव के असाधारणभाव, गुणस्थानक्रम इत्यादि खास प्रयोजनभूत बातों का वर्णन स्पष्टता से किया है। काफी प्रचार हो रहा है, प्रथम भाग तीसरी बार छपा है।

जैन तीर्थ क्षेत्र पूजा पाठ संग्रह

पृष्ठ २९० ❀ मूल्य १–५०

जिसमें सभी सिद्धक्षेत्रों की प्राचीन बड़ी २ पूजा तथा सिद्ध क्षेत्र का परिचय दिया गया है। कहाँ से कहाँ जाना इसका वर्णन भी इसमें है।

स्तोत्रत्रयी (सटीक)

पृष्ठ ७८ मूल्य ०–५०

जिसमें कल्याणमंदिर स्तोत्र, भक्तामर और चतुर्विंशति स्तोत्र तथा उनके अर्थ हैं। साथ ही आध्यात्मिक तत्त्वमय भावार्थ है।

(पाटनी ग्रन्थमाला से)

आध्यात्मिक पाठ संग्रह

पृष्ठ सं० ७९३ मूल्य ३–००

पाटनी ग्रंथमाला से प्रकाशित यह एक उत्तम ग्रन्थ है जिसमें समयसार नाटक, परमार्थवचनिका, स्वरूपसंबोधन, इष्टोपदेश, परमानन्द स्तोत्र, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, समयसार कलश, प्रवचनसार मूल गाथा के पद्यानुवाद तथा श्री दौलतरामजी, द्यानतरायजी आदि कवियों की सुन्दर रचनाएँ हैं; वैराग्य और भक्ति का प्रकरण भी है।

शासन प्रभाव

पृष्ठ सं० २४ ❀ मूल्य ०–१२

जिसमें सुन्दर चित्र सहित पूज्य कानजी स्वामी की जीवनी तथा जैनधर्म के सिद्धान्तों का और आपके द्वारा पवित्र प्रभावना के कार्यों का संक्षेप में वर्णन है।

लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका

पृष्ठ १०५ ❀ मूल्य ०-१६ [तीसरी आवृत्ति]

शास्त्राधार सहित और संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये उत्तम मार्गदर्शक प्रवेशिका है।

जैन बाल-पोथी [सचित्र]

पृष्ठ ३२ ❀ मूल्य ०-२५

जिसमें ४८ सुन्दर चित्रों के माध्यम से मूल प्रयोजनभूत तत्त्व-ज्ञान समझाया गया है। इसे बालक बड़े प्रेम से पढ़ते हैं। अनेक भाषाओं में छप चुकी है। कई बार पांच हजार प्रतियें छप चुकी हैं। खास तौर से बालकों के लिये धर्म में रुचि पैदा करने के लिये उपयोगी है। धार्मिक अवसरों पर बांटना चाहिये।

वैराग्य पाठ संग्रह

पृ० ३३५ ❀ मूल्य १-२५ [पाटनी ग्रन्थमाला से]

इसमें श्री दौलतरामजी आदि के तथा ज्ञानदर्पण, ब्रह्मविलास, बनारसीदास, समयसार नाटक के अच्छे २ काव्य हैं।

भक्ति पाठ संग्रह

पृष्ठ १४५ ❀ मूल्य १-०० [पाटनी ग्रन्थमाला से]

जिसमें श्री समंतभद्राचार्य आदि से लेकर प्राचीन जैन कवियों की उत्तमोत्तम कृतियों का संग्रह है।

पंचमेरु और नन्दीश्वर पूजन विधान

पृष्ठ सं० १७१ ❀ मूल्य ०-७५

जिसमें निर्वाण कल्याणक तथा रत्नत्रयादि पूजन भी है। पंचमेरु और नन्दीश्वर विधान आदि बड़ी पूजायें हैं।

समयसार हिन्दी पद्यानुवाद छप रहा है

अपूर्व अवसर नामक काव्य पर प्रवचन छप रहा है

अनुभव प्रकाश

पृष्ठ १२६ ❀ मूल्य ०-५० (ले० दीपचन्दजी साधर्मी)

जिसमें आत्मानुभव को सुगम-रीति से समझाया गया है।

आत्मधर्म (मासिक पत्र)

वार्षिक मूल्य ३-००

जैन धर्म वस्तु स्वभाव है, संप्रदाय नहीं है। वस्तुतः विश्व के सभी पदार्थों का वास्तविक स्वरूप जैसा है वैसा दर्शाकर आत्मकल्याण का सच्चा उपाय बतलाने वाला विश्वदर्शन जैन धर्म है, परम उपकारी पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का सार इसमें दिया जाता है। उसको यथार्थरूप में समझकर आत्मकल्याण कीजिये। आत्मधर्म पत्र तथा उसकी गत वर्षों की फाइलें पवित्रज्ञान निधि हैं। अवश्य पढ़िये-मनन कीजिये। नमूने के अंक भेट में मिल सकते हैं।

आत्मधर्म फाइलें [सजिल्द]

वर्ष १. ३. ५. ६. ७. ८. १० प्रत्येक का मूल्य ३-७५



ग्रंथ सूची

समयसार	छप रहा है
प्रवचनसार	छप रहा है
नियमसार	५-५०
पंचास्तिकाय संग्रह	४-५०
दशलक्षण धर्म (प्रवचन)	०-५०
छहढाला	०-८१
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५
समयसार प्रवचन भाग २	५-२५
समयसार प्रवचन भाग ३	४-५०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें भाग १	१-००
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें भाग २	२-००
मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी)	५.००
सम्यग्दर्शन	१-६२
ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मुक्ति का मार्ग	०-५०
भेदविज्ञानसार	२-००
मूल में भूल	०-७५
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३ प्रत्येक	०-६५
जैन तीर्थ क्षेत्र पूजा पाठ संग्रह-तीर्थ परिचय	१-५०
स्तोत्रत्रयी	०-५०

आध्यात्मिक पाठ संग्रह	३-००
शासन प्रभाव	०-१२
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	०-१६
जैन बाल पोथी (सचित्र)	०-२५
वैराग्य पाठ संग्रह	१-२५
भक्ति पाठ संग्रह	१-००
पंचमेरु और नन्दीश्वर पूजन विधान	०-७५
आत्मधर्म (मासिक पत्र)	३-००
आत्मधर्म (पुरानी फाइलें) वर्ष १, ३, ५, ६, ७, ८, १० प्रत्येक का मूल्य	३-७५
अनुभवप्रकाश	०-५०
समयसार हिन्दी पद्यानुवाद	छप रहा है
अपूर्व अवसर काव्य पर प्रवचन	छप रहा है

सभी ग्रंथों पर डाक खर्च अलग लगेगा।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



शुद्ध पत्र

पृ०	पेज	शुद्धि	अशुद्धि
१३	२३	नी	ज्ञानी
५५	१	आठवें	बारहवें
,,	४	,,	,,
६५	१४	ह	ही
७९	११	सवला	सघला